पन्यास गंभीरविजयजी गणि विरचित

तत्त्व वार्त्ता.

तथा

श्रीधना चरित्रमांथी उद्धरित

लक्ष्मी सरस्वती संवाद.

प्रकट कर्ता,

श्री जैन धर्म प्रसारक सभा.

भावनगर.



वीर संवत २४३९.

अमदावाद.
श्री सत्यविजय प्रिन्टींग प्रेसमां शा. सांकलचंद हरिलाले छापी.

किंमत त्रण आना.

कपडाना पुंठाना चार आना.

खास सूचना.



आवी नानी बुकने प्रस्तावनानी अपेक्षा नथी एम धारी मात्र सूचनाज लखवामां आवी छे.

प्रारंभमां आपेल तत्त्ववार्त्ता खरी जीवोने बहुज उपयोगी थाय तेवी छे. ते आगळ चलाववानी कर्त्तानी धारणा हती परंतु दुर्दैवे तेओ साहेब पोस वदि ८ रात्रिना काळधर्म पाम्या छे जेथी ते धारणा पुरी पडी शकी नथी.

तत्त्ववार्त्तानां मात्र ४५ पृष्ठ थवाथी बुक नानी थइ जाय तेम जणावाने लीधे लक्ष्मी सरस्वतीना संवादनुं संस्कृतमांथी भाषांतर करावी सुधारीने दाखल करवामां आवेल छे, ते पण धननी मूर्छावाळा मनुष्योने खास धडो लेवा लायक छे, अने अन्य धार्मिक जनोने पण खास वांचवा लायक छे.

आ बंने वस्तु लक्षपूर्वक साद्यंत वांची तेनुं रहस्य भव्य जनो हृदयमां उतारशे तो अमारा प्रयासनुं सार्थक थयुं मानशुं. एज प्रार्थना.

माघ शुदि १ }
सं. १९६९ }

श्री जैन धर्म प्रसारक सभा.
भावनगर.



संक्षिप्त विषय सूची

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह पांचवें भाग

के

खर्च का ब्योरा

विवरण	रकम
कागज १८ × २२ तेतीस रीम २१) रुपये प्रति रीम	६९३)
छपाई ७) प्रति फार्म (आठ पेजी), कुल फार्म ६६	४६२)
जिल्द बंधाई ।=) एक प्रति	१८७।।)
	१३४२।।)

ऊपर बताए हुए हिसाब के अनुसार कागज, बाइंडिङ्ग कलोथ, पाटे बोर्ड तथा प्रेस की अन्य सब चीजों का भाव बढ़ जाने से एक पुस्तक की लागत करीब २।।=) पड़ा है। ग्रन्थ तैयार कराना, प्रेस कापी लिखाना तथा प्रूफ रीडिङ्ग आदि का खर्च एक पुस्तक पर करीब ३) रुपया आता है। ऊपर का खर्च और यह खर्च दोनों जोड़ने से एक पुस्तक की कीमत करीब ५।।=) पड़ती है। पुस्तक की कीमत लागत मूजिब न रख कर ज्ञान प्रचार की दृष्टि से केवल २) ही रखी गई है, वह भी पुनः ज्ञान प्रचार में ही लगाई जायेगी।

नोट—इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या ४९० + ३२ कुल मिला कर ५२२ है। पुस्तक का वजन लगभग १५ छटांक है। एक पुस्तक मंगाने में खर्च अधिक पड़ता है। एक साथ पाँच पुस्तकें रेल्वे पार्सल से मंगाने में खर्च कम पड़ता है। मालगाड़ी से मगाने पर खर्च और भी कम पड़ता है। पुस्तक वी. पी. से भेजी जाती है। कीमत पहले से ही कम रखी गई है इसलिये कमीशन नहीं दिया जाता। पुस्तक मगाने वाले सज्जनों को अपना पूरा पता (पोस्ट आफिस, रेल्वे स्टेशन आदि) साफ साफ लिखना चाहिए।

पुस्तक मिलने का पता—

(१) पुस्तक प्रकाशन समिति
बूल प्रेस बिल्डिंग्स

(२) अगरचन्द भैरोदान सेठिया
जैन पारमार्थिक संस्था

बीकानेर (राजपूताना)



स्वर्गीय श्रीमान् सेठ अगरचन्दजी सेठिया



जन्म-भाद्रपद शुक्ला नवमी १९१३ वि०

स्वर्गवास-चैत्र कृष्णा एकादशी १९७८ वि०

श्रीमान् दानवीर सेठ अगरचन्दजी सेठिया
का
संक्षिप्त जीवन-परिचय

विक्रम संवत् १९१३ सावण सुदी ९ रविवार के दिन सेठ साहेब का जन्म हुआ था। आपको हिन्दी, वाणिका आदि की साधारण शिक्षा मिली थी। साधारण शिक्षा पाकर आप व्यापार में लग गये। भारत के प्रमुख नगर बम्बई और कलकत्ते में आपने व्यापार किया। व्यापार में आपको खूब सफलता मिली और आप लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये। धन पाकर आपने उसका सदुपयोग भी किया। आप उदारता पूर्वक धर्म-कार्यों में अपनी सम्पत्ति लगाते थे और दीन एवं असमर्थ भाइयों की सहायता करते थे।

धर्म के प्रति आपकी रुचि बचपन से ही थी और वह जीवन में उत्तरोत्तर बढ़ती रही। आपका स्वभाव कोमल एवं सहानुभूतिपूर्ण था। परहित साधन में आप सदा तत्पर रहते थे। आपका जीवन सादा एवं उच्च विचारों से पूर्ण था। आपने श्रावक के व्रत अङ्गीकार किए थे और जीवन भर उनका पालन किया। आपने धर्मपत्नी के साथ शीलव्रत भी धारण किया था। आपके इस के सिवाय और भी त्याग प्रत्याख्यान थे।

आपने अपने छोटे भाई सेठ भैरोंदानजी साहेब के ज्येष्ठ पुत्र जेठमलजी साहेब को गोद लिया ... और व्यापारकुशल देख कर

व्यावहारिक कार्य भार सौंप दिया। इस प्रकार निवृत्त होकर आप वृद्धावस्था में निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्ण धार्मिक जीवन बिताने लगे।

समाज में शिक्षा की कमी को आपने महसूस किया। आपने लघु भ्राता के साथ आपने इस सम्बन्ध में विचार किया। फलस्वरूप दोनों भाइयों की ओर से 'श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था' की स्थापना हुई। संस्था की व्यवस्था एवं कार्य संचालन के लिए आपने अपने छोटे भाई साहब को तथा चिरंजीव जेठमलजी को आज्ञा प्रदान की। तदनुसार दोनों साहेबान सुचारु रूप से संस्था का संचालन कर रहे हैं। संस्था के अन्तर्गत अभी बाल पाठशाला, कन्या पाठशाला, विद्यालय, कालेज, लायब्रेरी, पुस्तक प्रकाशन समिति, ये विभाग कार्य कर रहे हैं। संस्था का सन् १९४१ ई० का कार्य विवरण पाठक आगे पढ़ेंगे।

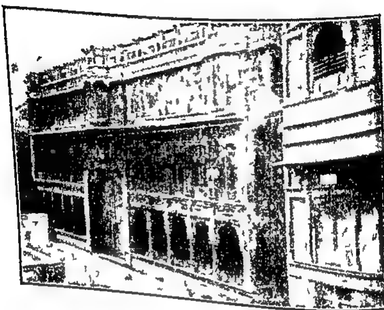
इस प्रकार सुखी और धार्मिक जीवन बिताकर चैत बदी ११ सम्वत् १९७८ को सेठ साहेब शुद्धभाव से आलोयणा और खमत खामणा करके इस असार देह का त्याग कर स्वर्ग पधारे।

ता० १५-८-४२
बीकानेर

मास्टर शिवलाल देवचन्द सेठिया
अध्यापक
सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था



श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर



अज्ञान तमसा पतिं विदलयन् सत्यार्थमुद्भासयन् ।
भ्रान्तान् सत्पथ दर्शनेन सुखदे मार्गे सदा स्थापयन् ॥
ज्ञानालोक विकासनेन सततं भूलोकमालोकयन् ।
श्रीमद्भैरवदानमानपटवी पीठं सदा राजताम् ॥

श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

की

संक्षिप्त वार्षिक रिपोर्ट

(तारीख १ जनवरी से ३१ दिसम्बर सन् १९४१ तक)

बाल पाठशाला

इस विभाग की ओर से बालकों को हिन्दी, अंग्रेजी, धर्म, गणित, वाणिज्य, इतिहास, भूगोल और स्वास्थ्य आदि की शिक्षा दी जाती है। पाठशाला में नीचे लिखी छः कक्षाएं हैं—

(१) जूनियर (ए) | (४) इन्फेन्ट
(२) जूनियर (बी) | (५) प्राइमरी
(३) सीनियर | (६) अपर प्राइमरी

इस वर्ष रतलाम बोर्ड की धार्मिक परीक्षाओं में निम्न लिखित विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए—

परीक्षा नाम	विद्यार्थी नाम
प्रवेशिका प्रथम खण्ड	भवरलाल मथेरण
साधारण परीक्षा	मूलचन्द गोलछा
	भवरलाल नाहटा
	झंवरलाल नाहटा

पाठशाला में छात्रों की संख्या १४५ से २०३ तक रही। औसत उपस्थिति ६९ प्रतिशत और परीक्षा परिणाम ७२ प्रतिशत रहा।

विद्यालय विभाग

इस विभाग में धर्मशास्त्र, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि की उच्च शिक्षा दी जाती है। इस वर्ष पंजाब युनिवर्सिटी की हिन्दी परीक्षाओं में निम्न लिखित विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए—

हिन्दी प्रभाकर	कबीरचन्द वैद
" "	कृष्णवल्लभ शर्मा कौशिक
हिन्दी भूषण	मोतीचन्द खजाची
हिन्दी रत्न	जगदम्बाप्रसाद भटनागर
" "	श्यामलाल शर्मा गौड
" "	काशीराम स्वामी
" "	नारायणचन्द्र यति
" "	लूणकरण गुप्ता

श्री कन्हैयालाल दक बंगाल संस्कृत एसोसिएशन की न्यायतीर्थ परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

श्री रतनकुमार महता इस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की साहित्यरत्न द्वितीय खण्ड की परीक्षा में सम्मिलित हुए।

इस वर्ष विद्यालय विभाग की ओर से पण्डितों ने जाकर ४ सन्त और १७ सतियों को हिन्दी, संस्कृत, धर्मशास्त्र, न्याय आदि का अध्ययन कराया।

नाइट कालेज

इस विभाग से आगरा, पंजाब युनिवर्सिटी तथा राजपूताना बोर्ड की मेट्रिक, एफ० ए०, बी० ए० की गतवर्ष की तरह तय्यारी कराई गई। कालेज की ओर से परीक्षा में सम्मिलित हुए विद्यार्थियों का परीक्षा परिणाम इस प्रकार है—

बी० ए० में ७ में से एक, एफ० ए० में ५ में से ४ और मेट्रिक में १४ में से ११ पास हुए।

यह उल्लेख करते हुए हमें हर्ष होता है कि इस वर्ष इस विभाग के अन्तर्गत एम० ए० (इंग्लिश) की क्लास खोली गई है।

गत वर्ष प्रारम्भ की गई संकेतलिपि (शार्ट हैण्ड) की क्लास का सेशन अप्रेल तक चलता रहा। सेशन के अन्त में कालेज की ओर से परीक्षा ली गई। परीक्षा में निम्न लिखित विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए—

श्री माणकचन्द मठिया

श्री मोहनलाल मठिया

श्री विश्वेश्वर गोस्वामी
श्री वटुक प्रसाद गोस्वामी
श्री हरिकृष्ण गोस्वामी
श्री मगनमल गुलगुलिया
श्री चादरत्न जाशी

गत वर्ष श्री रोशनलालजी चपलोत बी० ए० न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, सिद्धान्तशास्त्री, विशारद को एल एल० बी० का अध्ययन करने के लिए संस्था की ओर से इन्दोर भेजा गया था। वे एल एल० बी० की प्रिवियस परीक्षा मे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और उन्हे इस वर्ष एल एल० बी० फाइनल का अध्ययन करने के लिए भी वहीं भेजा गया।

कन्या पाठशाला

इस पाठशाला में कन्याओं को हिन्दी, गणित, धार्मिक आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है तथा सिलाई और कशीदे का काम भी सिखाया जाता है। कन्याओं की संख्या ४६ से ६२ तक रही। औसत उपस्थिति ५९ प्रतिशत और परीक्षापरिणाम ८१ प्रतिशत रहा।

समाज सेवा

श्री श्वे० स्था० जैन हितकारिणी संस्था का ऑफिस सम्बन्धी काम सदा की तरह इस विभाग से भुगताया गया तथा अन्य आवश्यक सामाजिक पत्र व्यवहार भी इस विभाग से होता रहा।

श्री अमरचन्दजी दौलतरामजी बोथरा द्वारा श्वे० स्थानकवासी श्री संघ को दिये गये मकान की मरम्मत भी इसी विभाग के द्वारा कराई गई।

उपहार विभाग

इस वर्ष भी गतवर्षों की तरह इस विभाग की ओर से १०९) के जैन सिद्धान्त बोल संग्रह और ७७॥=)॥ की [illegible]

प्रिन्टिंग प्रेस

इस वर्ष प्रेस का कार्य बहुत सुन्दर रीति से चलता रहा। अपनी संस्था की पुस्तकों के अतिरिक्त बाहर की पुस्तकें आदि भी प्रकाशित होती रहीं और प्रेस के कर्मचारियों में भी वृद्धि हुई।

शास्त्र भण्डार (लायब्रेरी)

इस वर्ष हिन्दी, अंग्रेजी, धर्मशास्त्र, संस्कृत और जर्मन साहित्य आदि भिन्न भिन्न विषयों की ७५८ उपयोगी पुस्तकें खरीदी गईं। १०१ सदस्यों ने २३७५ पुस्तकों का अध्ययन करके लाभ उठाया।

वाचनालय

इस विभाग में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक कई पत्र पत्रिकाएं आती हैं।

ग्रन्थ प्रकाशन विभाग

इस वर्ष निम्न लिखित पुस्तकें प्रकाशित हुईं–

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह द्वितीय भाग।

श्री जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह तृतीय भाग।

नवीन स्तवन संग्रह।

ज्ञानोपदेश इकावनी।

आनुपूर्वी और उसके कण्ठस्थ करने की विधि।

पंच कल्याणक दीप दूसरी आवृत्ति।

ज्ञानोपदेश भजन संग्रह।

संस्थाओं के प्रबंध के लिए एक कमेटी बनी हुई है जिसमें नीचे लिखे अनुसार पदाधिकारी तथा सदस्य हैं–

सभापति— श्रीमान् दानवीर सेठ भैरोदानजी सेठिया

मन्त्री— श्रीमान् जेठमलजी सेठिया

उपमन्त्री— श्रीमान् बाबू माणकचन्दजी सेठिया

सदस्य — १ श्रीमान् सेठ कनीरामजी बाँठिया

२ श्रीमान् महता बुधसिंहजी वैद

३ श्रीमान् सेठ खूबचन्दजी चण्डालिया (आडिटर)

४ श्रीमान् पानमलजी सेठिया

५ श्रीमान् मगनमलजी कोठारी (आडिटर)

६ श्रीमान् गोविन्दरामजी भनसाली

७ श्रीमान् जुगराजजी सेठिया (आडिटर)

श्री सेठिया संस्थाओं का १९४१ का स्टाफ

(१) श्री मास्टर शिवलालजी सेठिया

(२) श्री शम्भूदयालजी सक्सेना साहित्यरत्न

(३) श्री माणकचन्द्रजी भट्टाचार्य्य एम ए बी एल

(४) श्री शिवकाली सरकार एम ए

(५) श्री ज्योतिषचन्द्र घोष एम ए

(६) श्री श्यामलालजी एम ए , न्यायतीर्थ, विशारद

(७) श्री बालकृष्णजी एम ए

(८) श्री इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री, बी ए वेदान्तवारिधि, शास्त्राचार्य्य, न्यायतीर्थ

(९ श्री रोशनलालजी चपलोत बी ए न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, सिद्धान्ततीर्थ, विशारद

(१०) श्री खुशीरामजी वनोट बी ए एल एल बी

(११) श्री घेवरचन्द्रजी बाँठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरण तीर्थ

(१२) श्री प० सच्चिदानन्दजी शर्मा शास्त्री

(१३) श्री धर्मसिंहजी वर्मा शास्त्री, विशारद

(१४) श्री पं० सुबोधनारायणजी झा व्याकरणाचार्य

(१५) श्री प० इन्द्रनारायणजी झा व्याकरणाचार्य

(१६) श्री प० हनुमानप्रसादजी साहित्य शास्त्री

(१७) श्री कानमलजी कोठारी न्यायतीर्थ

(१८) श्री

(१९) श्री पारसमलजी नाहर व्याकरणतीर्थ
(२०) श्री राजकुमारजी जैन हिन्दी प्रभाकर
(२१) श्री मोतीचन्दजी सुराणा हिन्दी प्रभाकर
(२२) श्री रतनकुमारजी 'रत्नेश'
(२३) श्री मदनकुमारजी महता विशारद
(२४) " हुकमचन्दजी जैन
(२५) " फकीरचन्दजी पुरोहित
(२६) " रुगनाथजी महात्मा
(२७) " रामकृष्णजी व्यास
(२८) " नन्दलालजी व्यास
(२९) " किसनलालजी व्यास
(३०) " आसकरनजी साद
(३१) " मूलचन्दजी सिपाणी
(३२) " पानमलजी आसाणी
(३३) " मगनमलजी गलगुलिया
(३४) " मानाराम माली

कन्या पाठशाला

श्री राम प्यारी बाई
" गौरा बाई
" भगवती बाई

श्री फूला बाई
" रतन बाई
" गुलाब बाई

सेठिया प्रिन्टिंग प्रेस

श्री गोपीनाथजी शर्मा
" मगनमलजी गुलगुलिया
" मगराजजी मथरणी
" गुलाम नबी
" मुरलीधर शुक्ल
" शमशुद्दीन
" गुल्लु खां

श्री धूसराजजी सिपाणी
" रतनलालजी सुराणा
" फूलसिंहजी राजपूत
" गुदाबक्स दफ्तरी
" सरदारसिंह
" जयरामजी

आय व्यय का संक्षिप्त विवरण

आय		व्यय	
१८८८६≡)	कलकत्ते के मकानों का किराया	१७४२४।=)	श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्थाओं में लायब्रेरी, बालपाठशाला, विद्यालय कन्या पाठशाला, नाइट कालेज, समाज सेवा तथा संस्था के मकानों की मरम्मत वगैरह में खर्च हुए।
९५९॥=)	व्याज	६८१॥=)॥	श्री सेठिया प्रिन्टिंग प्रेस में दूटते रहे
३७६)॥	जसकरण मेमोरियल फण्ड की आय	१०५॥≡)॥	दीक्षा उपकरण में लगे
		१८२१७)	
		२००९॥-)॥	श्री वृद्धि खाते
२०२२१॥-)॥		२०२२१॥-)॥	

दो शब्द

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह का पांचवा भाग पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसमें १४ से लेकर १९ तक के बोल संग्रह दिये गये हैं। चौदह राजू परिमाण लोक का स्वरूप, चौदह गुणस्थान, विनीत के पन्द्रह लक्षण, पन्द्रह कर्मादान, चन्द्रगुप्त राजा के सोलह स्वप्न, सोलह सती चरित्र, श्रावक के सतरह लक्षण, शरीर के सतरह द्वार, गतागत के अठारह द्वार, अठारह पापस्थानक साधु के अठारह कल्प, पौषध के अठारह दोष, कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष, ज्ञातासूत्र की उन्नीस कथाएं आदि इस भाग की विशेषता हैं। सोलह सतियों का चरित्र पर्याप्त विस्तार के साथ लिखा गया है। आशा है पाठकों को ये बातें पसन्द आएंगी।

पुस्तक छप जाने के बाद जो अशुद्धियाँ हमारी दृष्टि में आईं उन्हें हाथ से सुधार दिया गया है। इसलिए इस भाग में भी अलग शुद्धिपत्र देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

छठा भाग तैयार हो रहा है। वह भी यथासम्भव शीघ्र ही पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जायगा।

निवेदक

पुस्तक प्रकाशन समिति

आभार प्रदर्शन

जैनधर्म दिवाकर पण्डितप्रवर उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज तथा शास्त्रज्ञ मुनि श्री पन्नालाल जी महाराज ने यथासम्भव बोलों का निरीक्षण करके अपनी अमूल्य सम्मतियाँ दी हैं। यथास्थान संशोधन या सूचना करके पुस्तक को उपयोगी बनाने में पूरा परिश्रम उठाया है। इसके लिए हम और पुस्तक से लाभ उठाने वाले सभी सज्जन इनके सदा आभारी रहेंगे।

परमप्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज तथा युवाचार्य मुनि श्री गणेशीलालजी महाराज के अपनी विद्वान् शिष्य मण्डली के साथ बीकानेर या भीनासर विराजने से भी हमें बहुत लाभ प्राप्त हुआ है। मुनि श्री सिरेमलजी महाराज तथा मुनि श्री जवरीमलजी महाराज ने भी बोलों को शुद्ध, प्रामाणिक और अधिक उपयोगी बनाने म पूरा सहयोग दिया है। इसके लिए हम उनके सदा ऋणी रहेंगे।

१५ फागण १९९१
बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

प्रमाण के लिए उद्धृत ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
अनुयोगद्वार सूत्र	मलधारी हेमचन्द्र सूरि	आगमोदय समिति सूरत।
आचारांग सूत्र	शीलाकाचार्य टीका।	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति सूरत।
आवश्यक चूर्णि	भद्रबाहुस्वामिकृत जिनदास गणिकृत निर्युक्ति सहित,	ऋषभदेव केसरीमल श्वेताम्बर संस्था रतलाम।
आवश्यक निर्युक्ति	मलयगिरि सूरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
उत्तराध्ययन सूत्र	शान्तिसूरि बृहद्वृत्ति।	आगमोदय समिति सूरत।
उपासक दशाङ्ग	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
औपपातिक सूत्र	अभयदेव सूरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
कर्मग्रन्थ (पहला, दूसरा, चौथा)	देवेन्द्र सूरि विरचित पं० सुखलालजी कृत हिन्दी व्याख्या सहित।	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरा।
कर्म प्रकृति	शिवाचार्य प्रणीत, उपाध्याय श्री यशोविजय विरचित सटीक	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर।

चन्द्रप्रज्ञप्ति	शान्तिचन्द्र गणि विरचित वृत्ति।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	शान्तिचन्द्र गणि विरचित वृत्ति।	देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।
ज्ञाताधर्मकथाग	अभयदेव सूरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
ज्ञाताधर्मकथाग	शास्त्री जेठालाल हरिभाई कृत गुजराती अनुवाद।	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर।
ठाणाग सूत्र	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
तत्त्वार्थसूत्र भाष्य	श्री उमास्वाति कृत।	मोतीलाल लाधाजी पूना।
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र	हेमचन्द्राचार्य	जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर।
दशवैकालिक	मलयगिरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
धर्मबिन्दु	हरिभद्राचार्य कृत, मुनि चन्द्राचार्यविहित वृत्तियुक्त	आगमोदय समिति सूरत।
धर्म संग्रह	श्रीमन्मानविजय महोपाध्याय प्रणीत यशोविजय टिप्पणी सहित।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।
नन्दी सूत्र	मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति सूरत।
पचाशक	हरिभद्र सूरि विरचित अभयदेव सूरि टीका।	जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर
पिण्डनिर्युक्ति	मलयगिरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
पिण्डविशुद्धि	श्रीजिनवल्लभ गणि कृत चन्द्रसूरि कृत टीका।	विजयानन्द जैन ग्रन्थमाला सूरत।
प्रज्ञापना सूत्र	मलयगिरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
प्रज्ञापना सूत्र	प० भगवानदास हर्षचन्द्र कृत गुजराती अनुवाद।	जैन सोसाइटी अहमदाबाद।
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि कृत सिद्धसेन शेखर वृत्तिसहित	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था बम्बई।

बृहत्कल्प	मलयगिरि और आचार्य क्षेमकीर्ति कृत वृत्ति सहित।	आत्मानन्द जैन सभा भावनगर।
भगवती सूत्र	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
राजीमती	पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज कृत	हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम
विशेषावश्यक भाष्य	मलधारी हेमचन्द्र बृहद् वृत्ति	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस
व्यवहार चूलिका	हस्तलिखित टब्बा	
श्रावक के चार शिक्षाव्रत	पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज कृत	हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम
सती चन्दनबाला (वसुमती)	पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज कृत।	हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम
समवायांग	अभयदेव सूरि टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
सूत्रकृताङ्ग	शीलांकाचार्य कृत टीका।	आगमोदय समिति सूरत।
हरिभद्रीयावश्यक	हरिभद्र सूरि कृत टीका भद्रबाहुनिर्युक्ति तथा भाष्य युक्त	जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर।

विषय सूची

अकाराद्यनुक्रमणिका



श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

पञ्चम भाग

मंगलाचरण

ऐन्द्रश्रेणिनताय दोषहुतभुद् [illegible] गना-
धीराजद्धिभवाय जन्मजलधे [illegible] त्मने ।
गम्भीरागमभाषिणे मुनिमनो [illegible] गाय सन्
नासीराय शिवाध्वनि स्थिति [illegible] नित्य नम ॥
कुर्वाणाणुपदार्थदर्शनवरा [illegible] त्रपा-
मानस्या जनकृत्तमोहरत [illegible] ह्निका ।
अक्षोभ्या तव भारती जिन [illegible] नां वा [illegible]

भावार्थ–देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुजेन्द्रों की श्रेणी द्वारा वन्दित, राग द्वेष आदि दोष रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए जल स्वरूप, वीतरागता रूपी परमैश्वर्य से सुशोभित, संसार रूपी समुद्र के लिए तीर, परमधीर, गम्भीर, आगमों का उपदेश देने वाले, मुनियों के मन रूपी आम्र वृक्ष पर बसने वाले कीर अर्थात् शुक पक्षी, मोक्ष मार्ग में सब से आगे चलने वाले सैनिक और तीर्थों की स्थापना करने वाले भगवान् महावीर को सदा वन्दन हो॥ १ ॥

भक्तिपूर्वक प्रणाम करने वालों के मोह को काटने वाले, हे जिनेश्वर देव! जीवादि सूक्ष्म पदार्थों की प्रकाशिका होने से सूर्य के तेज को लज्जित करने वाली, कल्याण को देने वाली, गहन तर्क और युक्तियों से गुँथी हुई, सत्य वस्तु को प्रकट करने वाली होने से सर्वत्र अप्रतिहत, प्रतिवादियों के गर्व का नाश करने वाली तथा अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाली आपकी वाणी मेरे बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे।



चौदहवाँ बोल संग्रह

८२२– श्रुतज्ञान के चौदह भेद

श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले शास्त्रों के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। नन्दी सूत्र में मतिज्ञान के पश्चात् इसका वर्णन किया गया है।

चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग और गणितानुयोग की सारी बातें श्रुतज्ञान में आ जाती हैं। इसके चौदह भेद हैं–

(१) अक्षर श्रुत (२) अनक्षर श्रुत (३) सञ्ज्ञि श्रुत
(४) असञ्ज्ञि श्रुत (५) सम्यक् श्रुत (६) मिथ्या श्रुत
(७) सादि श्रुत (८) अनादि श्रुत (९) सपर्यवसित श्रुत
(१०) अपर्यवसित श्रुत (११) गमिक श्रुत (१२) अगमिक श्रुत
(१३) अङ्गप्रविष्ट श्रुत (१४) अङ्गबाह्य श्रुत।

(१) अक्षर श्रुत– जिस का कभी क्षरण (नाश) न हो उसे अक्षर कहते हैं। जीव उपयोग स्वरूप वाला होने से ज्ञान का कभी नाश नहीं होता। इस लिए यहाँ ज्ञान ही अक्षर है। ज्ञान का कारण होने से औपचारिक नय से अकारादि वर्ण भी अक्षर कहे जाते हैं। अक्षर रूप श्रुत को अक्षर श्रुत कहते हैं। इसके तीन भेद हैं– (१) सञ्ज्ञाक्षर (२) व्यञ्जनाक्षर (३) लब्ध्यक्षर। क, ख वगैरह आकारों का क, ख नाम रखना सञ्ज्ञाक्षर श्रुत है क्योंकि इन आकारों के द्वारा अक्षरों का ज्ञान होता है। ब्राह्मी आदि लिपियों के भेद से यह अनेक प्रकार का है। क, ख आदि का उच्चारण करके अक्षरों [illegible] करना व्यञ्जनाक्षर है। लब्धि अर्थात्

उपयोग रूप अक्षर (ज्ञान) को लब्ध्यक्षर कहते हैं। यहाँ श्रुत ज्ञान का प्रकरण होने से भाव श्रुत रूप ज्ञान समझना चाहिए अथवा अक्षर का उच्चारण करके जिस अर्थ की उपलब्धि होती है वह लब्ध्यक्षर है। किसी शब्द को सुनने के बाद इन्द्रिय और मन द्वारा उसका अर्थ समझ लेने पर शब्द के अनुसार अर्थ का जो ज्ञान होता है वह लब्ध्यक्षर श्रुत है। पाँच इन्द्रिय तथा मन के द्वारा जानने के बाद लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होने से इसके छः भेद हैं।

(२) अनक्षर श्रुत– अक्षरों के बिना शरीर की चेष्टा आदि से होने वाला ज्ञान अनक्षर श्रुत है। जैसे– लम्बे और भारी साँस लेने से दूसरे के मानसिक दुःख आदि का ज्ञान होता है। अनक्षर श्रुत में शरीर की ऐसी चेष्टा ही ली जाती है जो श्रोत्र इन्द्रिय का विषय हो। हाथ वगैरह के इशारे इस में नहीं लिए जाते। अनक्षर श्रुत के कई भेद हैं। जैसे–साँस लेना, साँस छोड़ना, थूकना, खाँसना आदि। इन चेष्टाओं में अक्षरों का उच्चारण न होते हुए भी अव्यक्त ध्वनि होती है।

(३) सञ्ज्ञि श्रुत– सञ्ज्ञा अर्थात् सोचने विचारने की शक्ति जिस जीव में हो उस सञ्ज्ञी कहते हैं। सञ्ज्ञी के लिए बताए गए श्रुत को सञ्ज्ञि श्रुत कहते हैं। सञ्ज्ञी के तीन भेद हैं– कालिकयुपदेश सञ्ज्ञी, हेतुपदेश सञ्ज्ञी और दृष्टिवादोपदेश सञ्ज्ञी।

जिस प्राणी में ईहा, अपोह, मार्गणा गवेषणा, चिन्ता और विमर्श हो उस कालिकयुपदेश सञ्ज्ञी कहते हैं। ईहादि का स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है–

ईहा– वस्तु के यथार्थ विचार को ईहा कहते हैं।

अपोह– वस्तु का निश्चय करना अपोह है।

मार्गणा– अन्वय धर्म अर्थात् जिसके रहने पर किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध की जा सके, उसे मालूम करना मार्गणा है।

गवेषणा–व्यतिरेक धर्म अर्थात् जिसके रहने पर किसी वस्तु का अभाव सिद्ध किया जा सके, उसकी पर्यालोचना करना गवेषणा है।

चिन्ता– यह कार्य पहले कैसे हुआ, अब कैसे करना चाहिए, भविष्य में कैसे होगा इत्यादि विचार को चिन्ता कहते हैं।

विमर्श–यह इसी तरह ठीक है, वह ऐसे ही हुआ था, इसी प्रकार वह होगा, इस प्रकार वस्तु के ठीक ठीक निर्णय का विमर्श कहते हैं।

मन पर्याप्ति वाले गर्भज मनुष्य आदि तथा औपपातिक जन्म वाले देव आदि ही ईहादि क्रम से दीर्घ काल का विचार करने वाले होते हैं। वे ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों का विचार कर सकते हैं। इस लिए वे ही सञ्ज्ञी हैं। इस प्रकार की सञ्ज्ञा वाला आँखों देखे की तरह मन से सोचे हुए तीनों कालों के पदार्थों को भी स्पष्ट रूप से जान लेता है। जिस जीव के ईहादि नहीं हैं वह असञ्ज्ञी कहलाता है। सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा एकेन्द्रिय जीव असञ्ज्ञी होते हैं। इनमें मनोलब्धि उत्तरोत्तर कम होती है इस लिए ये पदार्थ को भी अस्फुट रूप से जानते हैं। सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय अस्फुट जानता है, उससे कम चौरिन्द्रिय, उससे कम तेइन्द्रिय, उससे कम बेइन्द्रिय और उससे कम एकेन्द्रिय जानता है। इन में स्पष्ट रूप से कोई मन नहीं होता। केवल अस्पष्ट और बहुत अल्प मन होता है जिससे उन्हें अस्पष्ट रूप से आहार आदि सञ्ज्ञाएं होती हैं। जिस जीव में आगे पीछे तथा अपना हित अहित सोचने की शक्ति है वही सञ्ज्ञी कहा जाता है। सामान्य इच्छा मात्र से कोई सञ्ज्ञी नहीं कहा जा सकता।

हेतुपदेश सञ्ज्ञी– जो प्राणी बुद्धिपूर्वक अपने शरीर आदि की रक्षा के लिए इष्ट आहार आदि में प्रवृत्त होता है तथा अनिष्ट से निवृत्त होता है वह हेतुपदेश सञ्ज्ञी है। इस प्रकार के सञ्ज्ञी बेइन्द्रिय

आदि जीव भी हैं। इष्ट विषय में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति मन के व्यापार बिना नहीं हो सकती और मन से विचार करना ही संज्ञा है। इस प्रकार का विचार द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भी होता है इस लिए वे भी संज्ञी हैं। संज्ञा का हेतु अर्थात् कारण या निमित्त होने के कारण ये हेतूपदेश संज्ञी कहे जाते हैं। कालिक्युपदेश संज्ञी भूत, भविष्यत् आदि लम्बे समय का विचार कर सकता है। हेतूपदेश संज्ञी केवल वर्तमान काल का ही विचार करता है। यही इन दोनों में भेद है। जिसे वर्तमान काल के विषय में भी सोचने की शक्ति नहीं होती वह हेतूपदेश से भी असंज्ञी कहा जाता है। जैसे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय जीवों की कभी विचार पूर्वक इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट से निवृत्ति नहीं होती। आहार आदि संज्ञाएं भी उनके बहुत अस्पष्ट होती हैं, इस लिए वे संज्ञी नहीं कहे जाते।

दृष्टिवादोपदेश संज्ञी– क्षायोपशमिक ज्ञान वाला सम्यग्दृष्टि जीव दृष्टिवादोपदेश संज्ञी कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग् ज्ञानी होने से रागादि दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है। जो दोषों को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है क्योंकि जिस तरह सूर्य की किरणों के सामने अन्धेरा नहीं ठहर सकता इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के सामने रागादि दोष नहीं ठहर सकते। इस अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि को असंज्ञी कहा जाएगा।

संज्ञी के तीन भेदों के अनुसार श्रुत के भी तीन भेद हैं। गर्भज संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का श्रुतज्ञान, द्वीन्द्रियादि का श्रुतज्ञान तथा सम्यग्दृष्टि का श्रुतज्ञान। इनमें अन्तिम सम्यग्दृष्टि का श्रुतज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। बाकी मिथ्या है।

(४) असंज्ञिश्रुत– संज्ञिश्रुत से उल्टा असंज्ञिश्रुत है। इसके भी भेदप्रभेद संज्ञिश्रुत के समान जानने चाहिए।

(५) सम्यक्श्रुत– घाती कर्मों के सर्वथा क्षय होने से उत्पन्न होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक, संसार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तीनों लोकों द्वारा आशापूर्ण दृष्टि से देखे गए, महिमा गाये गए और पूजे गए, वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों कालों के ज्ञाता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान द्वारा प्रणीत बारह अंगों वाले गणिपिटक सम्यक्श्रुत हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग
(४) समवायांग (५) भगवती (६) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग
(७) उपासकदशाङ्ग (८) अन्तकृद्दशाङ्ग (९) अनुत्तरौपपातिक
(१०) प्रश्न व्याकरण (११) विपाक सूत्र (१२) दृष्टिवाद।

इनका विषय 'ग्यारहवें बोल संग्रह के ७७६ वें बोल में दिया है। इसी प्रकार उपाङ्ग सूत्र, मूल सूत्र, छेद सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि भी अङ्गों के अनुकूल अर्थ का प्रतिपादन करने से सम्यक्श्रुत हैं। ज्ञानमात्र की विवक्षा करके इन्हें द्रव्यास्तिक नय की अपेक्षा सम्यक् श्रुत कहा जाता है। ज्ञानवान् की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि द्वारा ग्रहण करने पर सम्यक्श्रुत तथा मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण करने पर मिथ्याश्रुत हैं।

चौदह पूर्वधारी के द्वारा ग्रहण किए गये आगम सम्यक्श्रुत ही हैं। दस पूर्वधारी द्वारा ग्रहण किए गए भी सम्यक्श्रुत ही हैं। उससे नीचे भजना है अर्थात् कुछ कम दस पूर्वधारी के द्वारा ग्रहण किए गए सम्यक्श्रुत भी हो सकते हैं और मिथ्याश्रुत भी, क्योंकि कुछ कम दस पूर्व तक का ज्ञान मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को हो सकता है। सम्यग्दृष्टि द्वारा ग्रहण किए जाने पर वे आगम सम्यक्श्रुत हो जाते हैं और मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण किए जाने पर मिथ्याश्रुत।

(६) मिथ्याश्रुत– मिथ्यादृष्टियों के द्वारा अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से कल्पना किए गए शास्त्र मिथ्याश्रुत हैं। जैसे– घोटकमुख, नागसूक्ष्म, शकुनरुत आदि। ये शास्त्र भी मिथ्यादृष्टि के द्वारा मिथ्या

रूप में ग्रहण किए जाने के कारण मिथ्याश्रुत हैं। सम्यग्दृष्टि द्वारा सम्यग्रूप से गृहीत होने पर सम्यग्श्रुत हैं, अथवा जिस मिथ्यादृष्टि के लिए ये सम्यक्त्व का कारण बन जायँ उसके लिए सम्यक्श्रुत ही हैं क्योंकि कुछ मिथ्यादृष्टि इन पुस्तकों में सार तथा मोक्षमार्ग के लिए उपयोगी अंश को ग्रहण करके मिथ्या अंश को छोड़ सकते हैं। वे उसी से संसार की असारता तथा आत्मा की अमरता को जान कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(७-८-९-१०) सादि, सपर्यवसित, अनादि तथा अपर्यवसित श्रुत– बारह अङ्ग पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित श्रुत हैं। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित हैं। सम्यक्श्रुत संक्षेप से चार प्रकार का है–

(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से।

द्रव्य से एक पुरुष की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित (सान्त) है क्योंकि कोई जीव अनादि काल से समकिती नहीं होता। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद ही उसका श्रुत सम्यक्श्रुत कहा जाता है, अथवा जब वह शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तभी सम्यक्श्रुत की आदि होती है। इस लिए एक व्यक्ति की अपेक्षा सम्यक् श्रुत सादि है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर भी मिथ्यात्व आने पर, प्रमाद के कारण, भावों के मलिन होने से, धर्म के प्रति ग्लानि होने से या देवलोक में चले जाने से श्रुतज्ञान विस्मृत हो जाता है, अथवा केवलज्ञान की उत्पत्ति होने से श्रुतज्ञान उसमें समाविष्ट हो जाता है। इस लिए यह सपर्यवसित अर्थात् सान्त है। तीनों काल के पुरुषों की अपेक्षा अनादि, अनन्त है क्योंकि ऐसा कोई समय न हुआ, न होगा जब कोई सम्यक्त्वधारी जीव न हो।

क्षेत्र से पाँच भरत और पाँच ऐरावतों की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित है क्योंकि इन क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल में सुषम

दुपमा के अन्त में और उत्सर्पिणी में दुःपमसुपमा के प्रारम्भ में तीर्थङ्कर भगवान् पहले पहल धर्म, संघ और श्रुत की प्ररूपणा करते हैं उसी समय सम्यक् श्रुत प्रारम्भ होता है। दुपमदुपमा आरे के प्रारम्भ में धर्म, संघ और श्रुत आदि का विच्छेद हो जाने से वह सपर्यवसित है। महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा अनादि और अपर्यवसित है क्योंकि वहाँ तीर्थङ्करों का कभी विच्छेद नहीं होता।

काल से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की अपेक्षा सादि और सपर्यवसित है क्योंकि अवसर्पिणी के सुपमदुपमा, दुपमसुपमा और दुपमा रूप तीन आरों में तथा उत्सर्पिणी के दुपमसुपमा और सुपमदुपमा रूप दो आरों में ही सम्यक्श्रुत होता है, दूसरे आरों में नहीं होता इस लिए सादि सपर्यवसित है। नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है। महाविदेह आदि क्षेत्रों में जहाँ सदा एक ही आरे के भाव रहते हैं वहाँ नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी काल कहा जाता है। महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा सम्यक्श्रुत अनादि तथा अपर्यवसित है।

भाव से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वरों द्वारा बताए गए व्रत नियम आदि की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि सपर्यवसित है क्योंकि प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने समय के अनुसार व्यवस्था करता है। क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा अनादि अपर्यवसित है क्योंकि प्रवाह रूप से क्षायोपशमिक भाव अनादि और अपर्यवसित है। अथवा इस में चार भग हैं--सादि सपर्यवसित, सादि अपर्यवसित, अनादि सपर्यवसित, अनादि अपर्यवसित। भव्य जीव का सम्यक्त्व सादि सपर्यवसित है। सम्यक्त्व प्राप्ति के दिन उसकी आदि है और फिर से मिथ्यात्व की प्राप्ति हो जाने पर उसका पर्यवसान हो जाता है। दूसरा भग शून्य है, मिथ्यात्वोदय होने पर सादि सम्यक्त्व का अवश्य पर्यवसान होता है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्ति के

मिथ्यात्व आता है वह भी अन्त वाला ही है, क्योंकि जिस जीव को एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो चुकी वह अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में अवश्य मोक्ष जाएगा, इसलिए सादि मिथ्यात्व भी अपर्यवसित नहीं है। तीसरा भंग मिथ्यात्व की अपेक्षा है। भव्य जीव के साथ मिथ्यात्व का सम्बन्ध अनादि होने पर भी सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर छूट जाता है। अभव्य जीव के मिथ्यात्व की अपेक्षा चौथा भंग है। उसका मिथ्यात्व अनादि भी है और अपर्यवसित भी है।

(११) गमिक श्रुत– आदि, मध्य और अवसान में थोड़े से हेर फेर के साथ जिस पाठ का बार बार उच्चारण किया जाता है, उसे गमिक कहते हैं, जैसे दृष्टिवाद वगैरह अथवा उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन की गाथाओं में 'समयं गोयम मा पमायए' का बार बार उच्चारण किया गया है।

(१२) अगमिक श्रुत– गमिक से विपरीत शास्त्र को अगमिक कहते हैं, जैसे आचारांग आदि।

(१३) अङ्गप्रविष्ट– पुरुष के बारह अंग होते हैं– दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्रार्द्ध (पसवाड़े), दो बाहें, ग्रीवा और सिर। श्रुत रूप पुरुष के भी आचारांग आदि बारह अंग हैं। जो शास्त्र इन अंगों में आगए हैं व अंगप्रविष्ट कहे जाते हैं। इनका संक्षिप्त विषय परिचय बारहवें बोल संग्रह बोल नं० ७७७ में दिया गया है।

(१४) अङ्ग बाह्य–बारह अंगों के सिवाय जो शास्त्र हैं वे अंग-बाह्य हैं। अथवा जो जो मूल भूत शास्त्र गणधरों द्वारा रचे गए हैं वे अंगप्रविष्ट हैं, क्योंकि गणधर ही मूल आचार आदि की रचना करते हैं, सर्वोत्कृष्ट लब्धि वाले होने से वे ही मूल शास्त्र रचने में समर्थ होते हैं। अंगों के अनुसार श्रुतस्थविरों द्वारा रचे गए शास्त्र अंग बाह्य हैं अथवा जो आचारादि श्रुत सभी क्षेत्र तथा सभी कालों में एक सरीखे अर्थ और क्रम वाला है वह अंगप्रविष्ट है। बाकी

श्रुत जो समय और क्षेत्र के अनुसार बदलता रहता है वह अंगबाह्य श्रुत है। अंग बाह्य श्रुत के दो भेद हैं– आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। जिस शास्त्र में साधु के लिए अवश्य करने योग्य बातें बताई हों वह आवश्यक श्रुत है अथवा अवश्य करने योग्य क्रियाओं का अनुष्ठान करना आवश्यक है, अथवा जो आत्मा को अपने गुणों के वश (अधीन) करे वह आवश्यक है। आवश्यक के छः भेद हैं– सामायिक, चउवीसत्थव, वन्दना, प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद हैं–कालिक और उत्कालिक। जो सूत्र दिन अथवा रात के पहले या पिछले पहर में ही पढ़ा जाता है उसे कालिक कहते हैं। जिस शास्त्र के पढ़ने में समय का कोई बन्धन नहीं है उसे उत्कालिक कहा जाता है। कालिक के भेद आगे दिए जाएंगे। उत्कालिक के अनेक भेद हैं– दशवैकालिक, कल्पाकल्प, कल्पश्रुत, क्षुद्रकल्पश्रुत, महाकल्प श्रुत, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुल वैयालिक, चन्द्रविद्याक, सूर्यप्रज्ञप्ति, पोरिसीमण्डल, मण्डलप्रवेश, विद्याचरण विनिश्चय, गणिविद्या, ध्यानविभक्ति, मरणविभक्ति, आत्मविशुद्धि, वीतराग श्रुत, संलेखना श्रुत, विहारकल्प, चरणविधि, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान इत्यादि।

कालिक श्रुत भी अनेक प्रकार का है– उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, क्षुद्रक विमान प्रविभक्ति, महती विमान प्रविभक्ति, [illegible], विवाह चूलिका, [illegible] रुणोपपात, [illegible] ात, दे [illegible]

स्थान श्रुत, नागपरिज्ञा, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिता, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा आदि सभी कालिक श्रुत हैं। इनके सिवाय प्रकीर्णक भी इन्हीं में गिने जाते हैं। भगवान् ऋषभदेव के समय ८४ हजार, बीच के तीर्थङ्करों के समय संख्यात हजार और भगवान् महावीर के शासन में चौदह हजार प्रकीर्णक रचे गए। अथवा जिस तीर्थङ्कर के शासन में जितने जितने शिष्य औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी या पारिणामिकी बुद्धि वाले हुए उसके समय में उतने ही प्रकीर्णकसहस्र हुए। प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही हुए।
(नन्दी सूत्र, सूत्र ३८-४४) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ४४४-४६६)

८२५- पूर्व चौदह

तीर्थ का प्रवर्तन करते समय तीर्थङ्कर भगवान् जिस अर्थ का गणधरों को पहले पहल उपदेश देते हैं, अथवा गणधर पहले पहल जिस अर्थ को सूत्र रूप में गूंथते हैं, उन्हें पूर्व कहा जाता है। पूर्व चौदह हैं-

(१) उत्पादपूर्व- इस पूर्व में सभी द्रव्य और सभी पर्यायों के उत्पाद को लेकर प्ररूपणा की गई है। उत्पाद पूर्व में एक करोड़ पद हैं।

(२) अग्रायणीय पूर्व- इस में सभी द्रव्य, सभी पर्याय और सभी जीवों के परिमाण का वर्णन है। अग्रायणीय पूर्व में छयानवे लाख पद हैं।

(३) वीर्यप्रवाद पूर्व- इस में कर्मसहित और बिना कर्म वाले जीव तथा अजीवों के वीर्य (शक्ति) का वर्णन है। वीर्य प्रवाद पूर्व में सत्तर लाख पद हैं।

(४) अस्तिनास्ति प्रवाद- संसार में धर्मास्तिकाय आदि जो वस्तुएँ विद्यमान हैं तथा आकाशकुसुम वगैरह जो अविद्यमान हैं, उन सब का वर्णन अस्तिनास्ति प्रवाद में है। इस में साठ लाख पद हैं।

(५) ज्ञानप्रवादपूर्व– इस में मति ज्ञान आदि ज्ञान के पाँच भेदों का विस्तृत वर्णन है। इस में एक कम एक करोड़ पद हैं।

(६) सत्यप्रवादपूर्व– इस में सत्य रूप संयम या सत्य वचन का विस्तृत वर्णन है। इस में छः अधिक एक करोड पद हैं।

(७) आत्मप्रवादपूर्व– इस में अनेक नय तथा मतों की अपेक्षा आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। इस में छब्बीस करोड़ पद हैं।

(८) कर्मप्रवादपूर्व– जिस में आठ कर्मों का निरूपण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश आदि भेदों द्वारा विस्तृत रूप से किया गया है। इस में एक करोड अस्सी लाख पद हैं।

(९) प्रत्याख्यान प्रवादपूर्व– इस में प्रत्याख्यानों का भेद प्रभेद पूर्वक वर्णन है। इस में चौरासी लाख पद हैं।

(१०) विद्यानुप्रवादपूर्व– इस पूर्व में विविध प्रकार की विद्या तथा सिद्धियों का वर्णन है। इस में एक करोड दस लाख पद हैं।

(११) अवन्ध्यपूर्व– इस में ज्ञान, तप, संयम आदि शुभ फल वाले तथा प्रमाद आदि अशुभफल वाले अवन्ध्य अर्थात् निष्फल न जाने वाले कार्यों का वर्णन है। इस में छब्बीस करोड पद हैं।

(१२) प्राणायुप्रवादपूर्व– इस में दस प्राण और आयु आदि का भेद प्रभेद पूर्वक विस्तृत वर्णन है। इस में एक करोड छप्पन लाख पद हैं।

(१३) क्रियाविशालपूर्व– इस में कायिकी, आधिकरणिकी आदि तथा संयम में उपकारक क्रियाओं का वर्णन है। इस में नौ करोड़ पद हैं।

(१४) लोकबिन्दुसारपूर्व– लोक में अर्थात् संसार में श्रुतज्ञान में जो शास्त्र बिन्दु की तरह सब से श्रेष्ठ है, वह लोकबिन्दुसार है। इसमें साढे बारह करोड पद हैं।

पूर्वों में वस्तु– पूर्वों के अध्यायविशेषों को वस्तु कहते हैं।

वस्तुओं के अवान्तर अध्यायों को चूलिकावस्तु कहते हैं।

उत्पादपूर्व में दस वस्तु और चार चूलिकावस्तु हैं। अग्राय णीय पूर्व में चौदह वस्तु और बारह चूलिकावस्तु हैं। वीर्यप्रवाद पूर्व में आठ वस्तु और आठ चूलिकावस्तु हैं। अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व में अठारह वस्तु और दस चूलिकावस्तु हैं। ज्ञानप्रवाद पूर्व में बारह वस्तु हैं। सत्यप्रवाद पूर्व में दो वस्तु हैं। आत्मप्रवाद पूर्व में सोलह वस्तु हैं। कर्मप्रवाद पूर्व में तीस वस्तु हैं। प्रत्याख्यान पूर्व में बीस। विद्यानुप्रवाद पूर्व में पन्द्रह। अवन्ध्य पूर्व में बारह। प्राणायु पूर्व में तेरह। क्रियाविशाल पूर्व में तीस। लोक बिन्दुसार पूर्व में पचीस। चौथे से आगे के पूर्वों में चूलिकावस्तु नहीं हैं।

(न १, सूत्र ८५) (समवायांग १४वाँ तथा १४७वाँ)

८२४- ज्ञान के अतिचार चौदह

सूत्र, अर्थ या तदुभय रूप आगम को विधिपूर्वक न पढ़ना अर्थात् उसके पढ़ने में किसी प्रकार का दोष लगाना ज्ञान का अतिचार दोष है। वह चौदह प्रकार का है-

(१) वाइद्ध-व्याविद्ध अर्थात् अक्षरों को उलट पलट कर देना। जिस प्रकार माला के रत्नों को उलट पलट जोड़ने से उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है उसी प्रकार शास्त्र के अक्षरों या पदों को उलट फेर कर पढ़ने से शास्त्र की सुन्दरता नहीं रहती है, तथा अर्थ का बोध भी अच्छी तरह नहीं होता, इस लिए पद या अक्षरों को उलट पलट कर पढ़ना व्याविद्ध नाम का अतिचार है।

(२) वच्चामेलिय- व्यत्याम्रेडित अर्थात् भिन्न भिन्न स्थानों पर आए हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिला कर पढ़ना। जैसे भिन्न भिन्न प्रकार के अनाज, जो आपस में मेल न खाते हों, उन्हें इकट्ठे करने से भोजन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार शास्त्र के भिन्न भिन्न पदों को एक साथ पढ़ने से अर्थ बिगड़ जाता है।

(३) हीणक्खरिय– हीनाक्षर अर्थात् इस तरह पढ़ना जिससे कोई अक्षर छूट जाय।

(४) अच्चक्खरिय– अधिकाक्षर अर्थात् पाठ के बीच में कोई अक्षर अपनी तरफ से मिला देना।

(५) पयहीणं– किसी पद को छोड़ देना। अक्षरों के समूह को पद कहते हैं जिसका कोई न कोई अर्थ अवश्य हो।

(६) विणयहीण–विनय हीन अर्थात् शास्त्र तथा शास्त्र पढ़ाने वाले का समुचित विनय न करना।

(७) घोसहीण– घोषहीन अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक आदि घोषों से रहित पाठ करना। उदात्त–ऊँचे स्वर से पाठ करना। अनुदात्त–नीचे स्वर से पाठ करना। स्वरित–मध्यम स्वर से पाठ करना। सानुनासिक– नासिका और मुख दोनों से उच्चारण करना। निरनुनासिक– बिना नासिका के केवल मुख से उच्चारण करना। किसी भी स्वर या व्यञ्जन का घोष के अनुसार ठीक न पढ़ना घोषहीन दोष है।

(८) जोगहीण– योग हीन अर्थात् सूत्र पढ़ते समय मन, वचन और काया को जिस प्रकार स्थिर रखना चाहिए उस प्रकार से न रखना। योगों को चञ्चल रखना, अशुभ व्यापार में लगाना और ऐसे आसन से बैठना जिससे शास्त्र की अशातना हो योगहीन दोष है।

(९) सुट्ठुदिन्न–शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति है उससे अधिक पढ़ाना। यहाँ सुण्ठु शब्द का अर्थ है शक्ति या योग्यता से अधिक।

(१०) दुट्ठुपडिच्छिय–आगम को बुरे भाव से ग्रहण करना।

नोट– हरिभद्रीयावश्यक में 'सुट्ठुदिन्न दुट्ठुपडिच्छिय' इन दोनों पदों को एक साथ रक्खा है और उसका अर्थ किया है–

'सुष्ठु दत्त गुरुणा, दुष्ठु प्रतीच्छित कलुषितान्तरात्मना'

अर्थात्– गुरु के द्वारा अच्छे भावों से दिया गया आगम बुरे भावों से ग्रहण करना। ऐसा करने से अतिचारों की संख्या चौदह के बजाय तेरह ही रह जाती है।

मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा विरचित, आगमोदय समिति द्वारा विक्रम संवत् १९७६ में प्रकाशित हरिभद्रीयावश्यक टिप्पणी, पृष्ठ १०८ में नीचे लिखे अनुसार खुलासा किया है–

शङ्का– ये चौदह पद तभी पूरे हो सकते हैं जब 'सुट्ठु दिण्णं दुट्ठु पडिच्छियं' ये दो पद अलग अलग अशातना (अतिचार) के रूप में गिने जाएं, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि 'सुष्ठु दत्त' का अर्थ है ज्ञान को भली प्रकार देना और यह अशातना नहीं है।

उत्तर– यह शङ्का तभी हो सकती है जब सुट्ठु शब्द का अर्थ शोभन रूप से या भली प्रकार किया जाय किन्तु यहाँ इस का अर्थ भली प्रकार नहीं है। यहाँ इसका अर्थ अतिरेक अर्थात् अधिक है अर्थात् थोड़े श्रुत के लिए योग्य पात्र को अधिक पढ़ाना ज्ञान की अशातना (अतिचार) है।

(११) अकाले कओ सज्झाओ– जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल न हो उस समय उसे पढ़ना। सूत्र दो प्रकार के हैं–कालिक और उत्कालिक। जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए प्रात: काल, सायङ्काल आदि निश्चित समय का विधान है वे कालिक कहे जाते हैं। जिन के लिए समय की कोई मर्यादा नहीं है वे उत्कालिक कहे जाते हैं। कालिक सूत्रों को उनके लिए निश्चित समय के अतिरिक्त पढ़ना अतिचार है।

(१२) काले न कओ सज्झाओ– जिस सूत्र के लिए जो काल निश्चित किया गया है उस समय स्वाध्याय न करना।

(१३) असज्झाए सज्झाओ–असज्झाय अर्थात् ऐसा कारण

जिन जीवों के मन होता है वे सञ्ज्ञी कहलाते हैं और जिन जीवों के मन नहीं होता वे असञ्ज्ञी कहलाते हैं। (समवायांग १४)(हरिभद्रीयावश्यक)

जीव के चौदह भेदों का पारस्परिक अल्प बहुत्व--

'कौन किससे अधिक है और कौन किससे कम' इस बात को बतलाना अल्पबहुत्व है। उपरोक्त प्रकार से बतलाये गये जीव के चौदह भेदों का अल्पबहुत्व पन्नवणा सूत्र के तीसरे अल्पबहुत्व द्वार के तीसरे इन्द्रिय द्वार, उन्नीसवें सूक्ष्मद्वार और बीसवें संज्ञी द्वार तथा जीवाभिगम सूत्र की चौथी प्रतिपत्ति के सूत्र २२५ के आधार से यहाँ दिया जाता है--

सब से थोड़े अपर्याप्त सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं, पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय उन से असंख्यात गुणा। पर्याप्त चतुरिन्द्रिय उनसे संख्यात गुणा। पर्याप्त असञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय उनसे विशेषाधिक। उनसे पर्याप्त बेइन्द्रिय विशेषाधिक। उनसे पर्याप्त तेइन्द्रिय विशेषाधिक। उनसे अपर्याप्त असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय असंख्यात गुणा। उनसे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक। पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय उनसे अनन्त गुणा। अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय उनसे असंख्यात गुणा। अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय उनसे असंख्यात गुणा। पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय उनसे संख्यात गुणा अधिक हैं। (प्रकरण संग्रह दूसरा भाग)

८२६-संमूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पत्तिस्थान चौदह

बिना माता पिता के उत्पन्न होने वाले अर्थात् स्त्री पुरुष के समागम के बिना ही उत्पन्न जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। पैंतालीस लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में, ढाई द्वीप और समुद्रों में, पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्म भूमि और छप्पन अन्तर द्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं। उनके मल मूत्रादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति के स्थान चौदह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं--

(१) उच्चारेसु– विष्ठा में (२) पासवणेसु– मूत्र में (३) खेलेसु– कफ में (४) सिंघाणेसु– नाक के मैल में (५) वतेसु– वमन में (६) पित्तेसु– पित्त में (७) पूएसु– पीप, राध और दुर्गन्ध युक्त बिगड़े घाव से निकले हुए खून में (८) सोणिएसु– शोणित– खून में (९) सुक्केसु– शुक्र वीर्य में (१०) सुक्कपुग्गल परिसाडेसु– वीर्य के त्यागे हुए पुद्गलों में (११) विगय जीव कलेवरेसु– जीव रहित शरीर में (१२) थीपुरीस संजोएसु– स्त्री पुरुष के संयोग (समागम) में (१३) णगर निद्धमणेसु– नगर की मोरी में (१४) सव्वेसु असुइ ठाणेसु– सब अशुचि के स्थानों में।

उपरोक्त चौदह स्थानों में संमूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है अर्थात् ये अन्तर्मुहूर्त में ही मर जाते हैं। ये असञ्ज्ञी (मन रहित), मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही इनका मरण हो जाता है।

(पन्नवणा पद १ सूत्र ३९) (आचारांग) (अनुयोगद्वार)

८२७– अजीव के चौदह भेद

जीवत्व शक्ति से रहित जड़स्वरूप वाले पदार्थ अजीव कहलाते हैं। अजीव के दो भेद हैं– रूपी अजीव और अरूपी अजीव। अरूपी अजीव के दस भेद हैं–

(१) धर्मास्तिकाय (२) धर्मास्तिकाय के देश (३) धर्मास्तिकाय के प्रदेश (४) अधर्मास्तिकाय (५) अधर्मास्तिकाय के देश (६) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश (७) आकाशास्तिकाय (८) आकाशास्तिकाय के देश (९) आकाशास्तिकाय के प्रदेश (१०) काल।

रूपी अजीव के चार भेद–

(११) स्कन्ध (१२) स्कन्ध देश (१३) स्कन्ध प्रदेश और (१४) परमाणु पुद्गल। (पन्नवणा पद १, सूत्र ३)

८२८– चक्रवर्ती के चौदह रत्न

प्रत्येक चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते हैं। उनके नाम–

(१) स्त्रीरत्न (२) सेनापति रत्न (३) गाथापति रत्न (४) पुरोहित रत्न (५) वर्द्धकि (रथ आदि बनाने वाला बढ़ई) रत्न (६) अश्वरत्न (७) हस्तिरत्न (८) असिरत्न (९) दण्डरत्न (१०) चक्ररत्न (११) छत्ररत्न (१२) चमररत्न (१३) मणिरत्न (१४) काकिणीरत्न।

उपरोक्त चौदह अपनी अपनी जाति में सर्वोत्कृष्ट होते हैं। इसी लिए ये रत्न कहलाते हैं। इन चौदह रत्नों में से पहले के सात रत्न पञ्चेन्द्रिय हैं। शेष सात रत्न एकेन्द्रिय हैं।

(समवायांग १४)

८२९– स्वप्न चौदह

अर्द्धनिद्रितावस्था में कल्पित हाथी, घोड़े आदि को देखना स्वप्न कहलाता है। यथार्थ रूप से देखे हुए स्वप्न का फल भी अवश्य मिलता है। भगवती सूत्र के सोलहवें शतक, छठे उद्देशे में चौदह स्वप्नों के फल का कथन किया गया है। वह निम्न प्रकार है–

(१) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में हाथी, घोड़े, बैल, मनुष्य, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व आदि की पंक्ति को देख कर शीघ्र जागृत होवे तो यह समझना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में सब दु:खों का अन्त कर मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।

(२) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न के अन्त में एक रस्सी को, जो समुद्र के पूर्व पश्चिम तक लम्बी हो, अपने हाथों से इकट्ठी करता (समेटता) हुआ अपने आप को देखे तो इस स्वप्न का यह फल है कि वह उसी भव में मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।

(३) कोई स्त्री अथवा पुरुष को ऐसा स्वप्न आवे कि लोकान्त पर्यन्त लम्बी रस्सी को उसने काट डाला है तो यह समझना

चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(४) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में ऐसा देखे कि पाँच रंगों वाले उलझे हुए सूत को उसने सुलझा दिया है तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(५) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में लोह, ताम्बा, कथीर और सीसे की राशि (ढेर) को देखे और वह उसके ऊपर चढ़ जाय तो समझना चाहिए कि वह दूसरे भव में मोक्ष जायगा।

(६) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में सोने, चान्दी, रत्न और वज्र (हीरों) की राशि को देखे और वह उस ढेर के ऊपर चढ़ जाय तो जानना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(७) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में बहुत बड़े घास के ढेर को या कचरे के ढेर को देखे और उस ढेर को बिखेर कर फैंक दे तो यह समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(८) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में शरस्तम्भ, वीरणस्तम्भ, वंशीमूलस्तम्भ या वल्लिमूलस्तम्भ को देखे और उन्हें जड़ से उखाड़ कर फैंक देवे तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(९) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में दूध के घड़े, दही के घड़े, घी के घड़े तथा मधु के घड़े को देखे और उन्हें उठा ले तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१०) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में मदिरा के घड़े, सौवीर (मदिरा विशेष) के घड़े, तेल के घड़े और वसा (चर्बी) के घड़े देखे और उन्हें फोड़ डाले तो समझना चाहिए कि वह दूसरे भव में मोक्ष जायगा।

(११) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में चारों ओर से कुसुमित पद्मसरोवर को देखे और उसमें प्रवेश करे तो जानना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१२) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में अनेक तरङ्गों से व्याप्त एक बड़े समुद्र को देखे और तैर कर उस के पार पहुँच जाय तो समझना चाहिए कि वह उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१३) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न में श्रेष्ठ रत्नों से बने हुए भवन को देखे और उसमें प्रवेश करे तो जानना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में मोक्ष जायगा।

(१४) कोई स्त्री अथवा पुरुष स्वप्न में श्रेष्ठ रत्नों से बने हुए विमान को देखे और उसके ऊपर चढ़ जाय तो समझना चाहिए कि वह व्यक्ति उसी भव में मोक्ष जायगा।

(भगवती शतक १६ उद्देशा ६)

८३०– महास्वप्न चौदह

प्राणियों की तीन अवस्थाएं होती हैं– (१) सुप्त (२) जागृत (३) सुप्तजागृत। तीसरी अवस्था में अर्थात् सुप्तजागृत अवस्था में किसी पदार्थ को देखना स्वप्न कहलाता है। इसके सामान्य पाँच भेद हैं– (१) याथातथ्य स्वप्न दर्शन (२) प्रतान स्वप्नदर्शन (३) चिन्ता स्वप्न दर्शन (४) विपरीत स्वप्न दर्शन (५) अव्यक्त स्वप्न दर्शन। इनका विस्तृत विवेचन इसके प्रथम भाग के बोल नम्बर ४२१ में दे दिया गया है।

स्वप्नों की संख्या बहत्तर बतलाई गई है। इनमें से तीस महास्वप्न कहे गये हैं। तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती जब गर्भ में आते हैं उस समय उनकी माता इन तीस महास्वप्नों में से चौदह महास्वप्न देख कर जागृत होती है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) गज (हाथी) (२) वृषभ (बैल) (३) सिंह (४) अभिषेक (लक्ष्मी) (५) पुष्पमाला (६) चन्द्र (७) सूर्य (८) ध्वजा (९) कुम्भ (कलश) (१०) पद्म सरोवर (११) सागर (१२) विमान या भवन (१३) रत्नराशि (रत्नों का समूह) (१४) निर्धूम अग्नि।

बारहवें स्वप्न में विमान और भवन दो शब्द रखे गये हैं। जो जीव स्वर्ग से आकर तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती होते हैं उनकी माता विमान देखती है और जो जीव नरक से निकल कर तीर्थङ्कर या चक्रवर्ती होते हैं उनकी माता विमान की जगह भवन देखती है।

इन चौदह महास्वप्नों में से कोई भी सात स्वप्न वासुदेव की माता देखती है। बलदेव की माता चार स्वप्न देखती है और माण्डलिक राजा की माता एक स्वप्न देखती है। (भगवती शतक १६ उद्देशा ६) (हरिभ °ियावश्यक) (ज्ञाता सूत्र अध्ययन ८)(कल्प सूत्र स्वप्नवाचनाधिकार)

८३१– श्रावक के चौदह नियम

श्रावक को प्रतिदिन प्रातःकाल निम्न लिखित चौदह नियमों का चिन्तन करना चाहिए। जो श्रावक इन नियमों का प्रतिदिन विवेक पूर्वक चिन्तन करता है तथा इन नियमों के अनुसार मर्यादा कर उसका पालन करता है, वह सहज ही महालाभ प्राप्त कर लेता है। वे नियम ये हैं–

सचित्त दव्व विग्गई, पन्नी ताम्बूल वत्थ कुसुमेसु।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेसु॥

अर्थात्– (१) सचित्त वस्तु (२) द्रव्य (३) विगय (४) जूते (५) पान (६) वस्त्र (७) पुष्प (८) वाहन (९) शयन (१०) विलेपन (११) ब्रह्मचर्य्य (१२) दिक् (दिशा) (१३) स्नान (१४) भोजन।

(१) सचित्त– पृथ्वी, पानी, वनस्पति, फल, फूल, सुपारी, इलायची, बादाम, धान्य–बीज आदि सचित्त वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग करे अथवा यह परिमाण करे कि आज मैं इतने द्रव्य और इतने वजन से अधिक उपयोग में न लूँगा।

(२) द्रव्य– जो पदार्थ स्वाद के लिए भिन्न भिन्न प्रकार से तय्यार किये जाते हैं, उनके विषय में परिमाण करे कि आज मैं इतने द्रव्य से अधिक उपयोग में न लूँगा। यह मर्यादा खान पान विषयक

द्रव्यों की ही की जाती है।

(३) विगय– शरीर में विकृति उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय कहते हैं। दूध, दही, घी, तेल और मिठाई आदि सामान्य विगय हैं। इन पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके, उतने का करे अथवा मर्यादा करे कि आज मैं अमुक पदार्थ काम में न लूँगा अथवा अमुक पदार्थ इतने वजन से अधिक काम में न लूँगा।

मधु और मक्खन दो विशेष विगय हैं। इन दोनों का निष्कारण उपयोग करने का त्याग करे और सकारण उपयोग की मर्यादा करे।

मद्य और मांस ये दो महाविगय हैं। श्रावक को इन दोनों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(४) पन्नी– पाँव की रक्षा के लिए जो चीज पहनी जाती है, जैसे जूते, मोजे, खड़ाऊ, बूट आदि इनकी मर्यादा करे।

(५) ताम्बूल– जो वस्तु भोजन करने के बाद मुखशुद्धि के लिये खाई जाती है उनकी गणना ताम्बूल में है, जैसे–पान, सुपारी, इलायची, लौंग, चूरन आदि। इनके विषय में मर्यादा करे।

(६) वस्त्र– पहनने, ओढ़ने के कपड़ों के लिए यह मर्यादा करे कि अमुक जाति के इतने वस्त्रों से अधिक वस्त्र काम में न लूँगा।

(७) कुसुम– सुगन्धित पदार्थ, जैसे फूल, इत्र व सुगन्धि आदि के विषय में मर्यादा करे।

(८) वाहन– हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी ताँगा, मोटर, रेल, नाव, जहाज आदि सवारी के साधनों के, चाहे वे साधन स्थल के हों अथवा जल या आकाश के हों, यह मर्यादा करे कि मैं अमुक वाहन के सिवाय आज और कोई वाहन काम में न लूँगा।

(९) शयन– शय्या, पाट, पाटला, पलंग, बिस्तर आदि के विषय में मर्यादा करे।

(१०) विलेपन– शरीर पर लेपन किये जाने वाले द्रव्य, जैसे

केसर, चन्दन, तेल, साबुन, सेंट, अञ्जन, मञ्जन आदि के सम्बन्ध में प्रकार (गणन) और वजन की मर्यादा करे।

(११) ब्रह्मचर्य–स्थूल ब्रह्मचर्य यानी स्वदार संतोष परदार विरमण व्रत अङ्गीकार करते समय जो मर्यादा रखी है, उसका भी यथाशक्ति संकोच करे। पुरुष पत्नी संसर्ग के विषय में और स्त्री पति संसर्ग के विषय में त्याग अथवा मर्यादा करे।

(१२) दिक् (दिशा)–दिक् परिमाण व्रत अङ्गीकार करते समय आवागमन के लिये मर्यादा में जो क्षेत्र जीवन भर के लिये रक्खा है, उस क्षेत्र का भी संकोच करे तथा यह मर्यादा करे कि आज मैं इतनी दूर से अधिक दूर ऊँची, नीची या तिर्छी दिशा में गमनागमन न करूँगा।

(१३) स्नान–देशस्नान या सर्व स्नान के लिये भी मर्यादा करे कि आज इससे अधिक न करूँगा। शरीर के कुछ भाग को धोना देशस्नान है और सब भाग को धोना सर्वस्नान कहा जाता है।

(१४) भत्ते–भोजन, पानी के सम्बन्ध में भी मर्यादा करे कि मैं आज इतने परिमाण से अधिक न खाऊँगा और न पीऊँगा।

उपरोक्त चौदह नियम देशावकाशिक व्रत के अन्तर्गत हैं। इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी गई है उसका संकोच होता है और श्रावकपना भी सुशोभित होता है।

कहीं कहीं इन चौदह नियमों के साथ असि, मसि और कृषि ये तीन और भी मिलाये गये हैं। ये तीनों कार्य आजीविका के लिये किये जाते हैं। आजीविका के लिये जो कार्य किये जाते हैं उनमें से पन्द्रह कर्मादान का तो श्रावक को त्याग कर देना चाहिये, शेष कार्यों के विषय में भी प्रतिदिन मर्यादा करनी चाहिये।

(क) असि–शस्त्र आदि के द्वारा श्रम करके अपनी आजीविका की जाय उसे असिकर्म कहा जाता है।

(ख) मसि-- कलम,दवात और कागज के द्वारा लेख या गणित कला का उपयोग किया जाय उसे मसिकर्म कहा जाता है।

(ग) कृषि-- खेती के द्वारा या खेती सम्बन्धी पदार्थों का क्रय विक्रय करके आजीविका करना कृषि कर्म कहलाता है।

उपरोक्त तीनों विषयों में भी श्रावक को अपने योग्य कार्य की मर्यादा रख कर शेष का त्याग करना चाहिए।

(पूज्यश्री जवाहिरलालजी म० कृत श्रावक के चार शिक्षाव्रत) (धर्म संग्रह अधिकार २)

८३२- चौदह प्रकार का दान

जो महात्मा आत्मज्योति जगाने के लिए सांसारिक खटपट छोड़ कर संयम का पालन करते हैं, सन्तोष वृत्ति को धारण करते हैं उनको जीवन निर्वाह के लिये अपने वास्ते किये हुए आहारादि में से उन श्रमण निर्ग्रन्थों के कल्पानुसार दान देना श्रावक का कर्तव्य है। श्रावक अपने लिये बनाये गये पदार्थों में से चौदह प्रकार के पदार्थों का दान साधु महात्माओं को दे सकता है। वे इस प्रकार हैं-

(१) अशन (२) पान (३) खादिम (४) स्वादिम।

अशन पान आदि चार आहारों का स्वरूप आवश्यक निर्युक्ति तथा उसके हरिभद्रीय भाष्य में नीचे लिखे अनुसार दिया है-

(क) अशन-- खाए जाने वाले पदार्थ, जिनका उपयोग मुख्य रूप से भूख मिटाने के लिए किया जाता है। जैसे रोटी वगैरह।

(ख) पान-- पेय अर्थात् पीये जाने वाले पदार्थ। जिनका उपयोग मुख्य रूप से प्यास बुझाने के लिये होता है, जैसे जल। दूध,छाछ वगैरह भी पेय हैं इस लिए साधारणतया पान में गिने जाते हैं किन्तु अशन का त्याग करने वाले को दूध आदि नहीं कल्पते क्योंकि उनसे भूख भी मिटती है। इस लिये तिविहार उपवास

में जल के सिवाय सभी पेय द्रव्यों का त्याग होता है।

(ग) खादिम– जिह्वा स्वाद के लिये खाए जाने वाले पदार्थ। जैसे फल, मेवा आदि।

(घ) स्वादिम– मुँह में रखे जाने वाले पदार्थ। जिनका उपयोग मुख्य रूप से मुंह की सफाई के लिये होता है। जैसे– लौंग, सुपारी, चूरण आदि।

उपरोक्त आहारों में से प्रायः सभी वस्तुएं अपेक्षा वश दूसरे आहारों में बदल जाती हैं। जैसे मेवा जीभ के स्वाद के लिये खाया जाने पर स्वादिम है किन्तु पेट भरने के लिये खाया जाने पर अशन है। इसलिये अशन पान आदि के निश्चय में उद्देश्य की ही प्रधानता है। ऊपर लिखा विभाग मुख्यता को लेकर किया गया है अर्थात् जिस वस्तु का उपयोग मुख्य रूप से जिस रूप में होता है उसे उसी आहार में गिना गया है। (आवश्यक निर्युक्ति गाथा १५८७-८८)

(५) वस्त्र– पहनने आदि के उपयोग में आने वाला कपड़ा।

(६) पात्र– काष्ठ (लकड़ी) के बने हुए पातरे आदि।

(७) कम्बल– जो शीत से बचने के लिये काम में लाया जाता है।

(८) पादप्रोञ्छन– जो जीव रक्षा के लिये पूंजने के काम में आते हैं वे रजोहरण या पूंजनी आदि।

(९) पीठ– बैठने के काम में आने वाले छोटे पाट।

(१०) फलक– सोने के लिये काम में आने वाले लम्बे पाट।

(११) शय्या– ठहरने के लिये मकान आदि।

(१२) संथारा– बिछाने के लिये घास आदि।

(१३) औषध– जो एक ही चीज को कूट कर या पीस कर बनाई हो, ऐसी दवा।

(१४) भेषज– जो अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हो, ऐसी दवा।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताये गये है इन में से प्रथम के आठ पदार्थ तो ऐसे हैं, जिन्हें साधु महात्मा लोग स्वीकार करने के पश्चात् दान देने वाले को वापिस नहीं लौटाते। शेष छः द्रव्य ऐसे है जिन्हें साधु लोग अपने काम में लेकर वापिस लौटा भी देते हैं।

(पूज्य श्री जवाहिरलालजी म० कृत श्रावक के चार शिक्षाव्रत)

८२३– स्थविर कल्पी साधुओं के लिए चौदह प्रकार का उपकरण

संयम की रक्षा के लिए स्थविर कल्पी साधुओं को नीचे लिखे अनुसार १४ प्रकार का वस्त्र पात्र आदि उपकरण रखना कल्पता है।

(१) पात्र– गृहस्थों के घर से भिक्षा लाने के लिए काठ, मिट्टी या तुम्बी वगैरह का बर्तन। मध्यम परिमाण वाले पात्र का घेरा तीन बिलांत और चार अंगुल होता है। देश काल की आवश्यकता के अनुसार बड़ा या छोटा पात्र भी रक्खा जा सकता है।

(२) पात्रबन्ध– पात्रों को बाँधने का कपड़ा।

(३) पात्रस्थापन– पात्र रखने का कपड़ा।

(४) पात्रकेसरिका– पात्र पोंछने का कपड़ा।

(५) पटल– पात्र ढकने का कपड़ा।

(६) रजस्त्राण– पात्र लपेटने का कपड़ा।

(७) गोच्छक– पात्र वगैरह साफ करने का कपड़ा।

ऊपर लिखे सात उपकरणों को पात्रनिर्योग कहा जाता है। इन का पात्र के साथ सम्बन्ध है।

(८-१०) प्रच्छादक– पछेवड़ी अर्थात् ओढ़ने की चद्दरें। साधु को उत्कृष्ट तीन चद्दरें रखना कल्पता है, इस लिए ये तीन उपकरण माने जाते हैं।

(११) रजोहरण– वसति, पाट तथा शय्या वगैरह को पूँजने

के लिए ऊन आदि का बना हुआ रजोहरण (ओघा)।

(१२) मुखवस्त्रिका– वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिए मुख पर बाँधा जाने वाला कपड़ा।

(१३) मात्रक (पड़घा)–लघु शङ्का आदि परठने के काम में आने वाला पात्र विशेष।

(१४) चोलपट्ट– गुप्त अंगों को ढकने के लिए धोती के स्थान पर बाँधा जाने वाला कपड़ा।

नोट– इन चौदह उपकरणों में से जिनकल्पी को बारह तक रखना कल्पता है। मात्रक और चोलपट्ट रखना नहीं कल्पता।

(प्रवचनसारोद्धार [illegible])

८३४–साधु के लिये अकल्पनीय चौदह बातें

साधु, साध्वी को गृहस्थी के घर बिना कारण निम्न लिखित चौदह बातें करनी नहीं कल्पती।

(१) गृहस्थी के घर में जाना (२) खड़े रहना (३) बैठना (४) सोना (५) निद्रा लेना (६) विशेष रूप से निद्रा लेना (७) [illegible], पान, खादिम, स्वादिम इन चार प्रकार के आहार में से कोई भी आहार करना (८) बड़ीनीति और लघुनीति तथा [illegible] और नाक का मैल आदि परठवना (९) स्वाध्याय करना (१०) ध्यान करना (११) कायोत्सर्ग करना (१२) भिक्षु की बारह पडिमाओं में से कोई पडिमा स्वीकार कर कायोत्सर्ग [illegible]। अपवाद [illegible] में यदि कोई साधु या साध्वी स्थविर, रोगी, [illegible] और दुर्बल [illegible] अथवा मूर्च्छा (चक्कर) आती हो और [illegible] स्थिर न रहता हो, इन कारणों में से [illegible] हो तो [illegible] बारह बातें साधु को गृहस्थी के घर [illegible] हैं।

(१३) साधु, साध्वी को गृहस्थी के [illegible]

पूर्वक अर्थ कहना, अर्थ समझाना और उपदेश करना नहीं कल्पता।

(१४) साधु, साध्वी को गृहस्थी के घर के अन्दर पचीस भावनाओं सहित पाँच महाव्रतों का कथन करना यावत् उनका उपदेश देना नहीं कल्पता किन्तु अपवाद मार्ग में खडे खड़े एक आध गाथा और श्लोक का अर्थ कहना अथवा एक आध प्रश्न का उत्तर देना कल्पता है। यह कार्य भी खडे खडे ही करना चाहिए बैठ कर नहीं। (बृहत्कल्प उद्देशा ३ सूत्र २३-२४)

८३५- अविनीत के चौदह लक्षण

गुरु आदि बड़े पुरुषों की सेवा शुश्रूषा न करने वाला अविनीत कहलाता है। इसके चौदह लक्षण हैं-

(१) सकारण या अकारण बार बार क्रोध करने वाला।

(२) विकथा आदि में प्रवृत्ति करने वाला या दीर्घकाल तक क्रोध रखने वाला।

(३) मित्र की मित्रता का त्याग करने वाला अथवा कृतघ्न होकर किये हुए उपकार को न मानने वाला।

(४) शास्त्र पढ़ कर गर्व करने वाला।

(५) छोटे से अपराध के कारण महान् पुरुषों का भी तिरस्कार करने वाला अथवा अपना दोष दूसरों पर डालने वाला।

(६) मित्रों पर भी क्रोध करने वाला।

(७) अत्यन्त प्यारे मित्रों की भी पीठ पीछे निन्दा और सामने प्रशंसा करने वाला।

(८) वस्तु तत्त्व के विचार में स्वेच्छानुसार असम्बद्ध भाषण करने वाला, या पात्र अपात्र का विचार न करते हुए शास्त्रों के गूढ रहस्य को बताने वाला अथवा सर्वथा एकान्त पक्ष को लेकर बोलने वाला।

(७) कुरूप– निन्दित रीति से मोह उत्पन्न कर ठगने की प्रवृत्ति।

(८) जिह्मता– कुटिलता पूर्वक ठगने की प्रवृत्ति।

(९) किल्विष– किल्विषों सरीखी प्रवृत्ति करना।

(१०) आदरणा (आचरणा)– मायाचार से किसी वस्तु का आदर करना अथवा ठगाई के लिये अनेक प्रकार की क्रियाएं करना।

(११) गूहनता– अपने स्वरूप को छिपाना।

(१२) वञ्चनता– दूसरे को ठगना।

(१३) प्रतिकुञ्चनता– सरल भाव से कहे हुए वाक्य का खण्डन करना या विपरीत अर्थ लगाना।

(१४) सातियोग– उत्तम पदार्थ के साथ हीन (तुच्छ) पदार्थ मिला देना। (समवायाग ५२ वें स)

८३७– लोभ के चौदह नाम

लोभ कषाय के समानार्थक चौदह नाम हैं–

(१) लोभ– सचित्त या अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना।

(२) इच्छा– किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा।

(३) मूर्च्छा– प्राप्त की हुई वस्तुओं की रक्षा करने की निरन्तर अभिलाषा।

(४) कांक्षा– अप्राप्त वस्तु की इच्छा।

(५) गृद्धि– प्राप्त वस्तुओं पर आसक्तिभाव।

(६) तृष्णा– प्राप्त अर्थ का व्यय न हो ऐसी इच्छा।

(७) भिध्या– विषयों का ध्यान।

(८) अभिध्या– चित्त की चञ्चलता।

(९) कामाशा– इष्ट रूप और शब्द की प्राप्ति की इच्छा करना।

(१०) भोगाशा– इष्ट गन्ध आदि की प्राप्ति की इच्छा करना।

(११) जीविताशा-- जीवन की अभिलाषा करना।
(१२) मरणाशा-- विपत्ति के समय मरण की अभिलाषा।
(१३) नन्दी-- वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति।
(१४) राग-- विद्यमान सम्पत्ति पर राग भाव होना।

(समवायांग १२ में से)

८३८-- चौदह प्रकार से शुभ नामकर्म भोगा जाता है

(१) इष्ट शब्द (२) इष्ट रूप (३) इष्ट गन्ध (४) इष्ट रस (५) इष्ट स्पर्श (६) इष्ट गति (७) इष्ट स्थिति (८) इष्ट लावण्य (९) इष्ट यशः कीर्ति (१०) इष्ट उत्थान, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार, पराक्रम (११) इष्ट स्वर (१२) कान्त स्वर (१३) प्रिय स्वर (१४) मनोज्ञ स्वर

शुभ नाम कर्म के उदय से उपरोक्त बातों की प्राप्ति होती है।

(प्रज्ञापना सूत्र, पद २३)

८३९-- चौदह प्रकार से अशुभ नामकर्म भोगा जाता है

(१) अनिष्ट शब्द (२) अनिष्ट रूप (३) अनिष्ट गन्ध (४) अनिष्ट रस (५) अनिष्ट स्पर्श (६) अनिष्ट गति (७) अनिष्ट स्थिति (८) अनिष्ट लावण्य (९) अनिष्ट यशः कीर्ति (१०) अनिष्ट उत्थान, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार, पराक्रम (११) हीन स्वर (१२) दीन स्वर (१३) अप्रिय स्वर (१४) अमनोज्ञ स्वर।

अशुभ नामकर्म के उदय से उपरोक्त बातों की प्राप्ति होती है।

(प्रज्ञापना सूत्र, पद २३)

८४०-- आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह

क्रोध, मान ... ग्रन्थि

(७) कुरूप– निन्दित रीति से मोह उत्पन्न कर ठगने की प्रवृत्ति।

(८) जिह्मता– कुटिलता पूर्वक ठगने की प्रवृत्ति।

(९) किल्विष– किल्विषी सरीखी प्रवृत्ति करना।

(१०) आदरणा (आचरणा)– मायाचार से किसी वस्तु का आदर करना अथवा ठगाई के लिये अनेक प्रकार की क्रियाएं करना।

(११) गूहनता– अपने स्वरूप को छिपाना।

(१२) वञ्चनता– दूसरे को ठगना।

(१३) प्रतिकुञ्चनता– सरल भाव से कहे हुए वाक्य का खण्डन करना या विपरीत अर्थ लगाना।

(१४) सातियोग– उत्तम पदार्थ के साथ हीन (तुच्छ) पदार्थ मिला देना। (समवायांग ५२ वां स)

८३७– लोभ के चौदह नाम

लोभ कषाय के समानार्थक चौदह नाम हैं–

(१) लोभ– सचित्त या अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना।

(२) इच्छा– किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा।

(३) मूर्च्छा– प्राप्त की हुई वस्तुओं की रक्षा करने की निरन्तर अभिलाषा।

(४) कांक्षा– अप्राप्त वस्तु की इच्छा।

(५) गृद्धि– प्राप्त वस्तुओं पर आसक्तिभाव।

(६) तृष्णा– प्राप्त अर्थ का व्यय न हो ऐसी इच्छा।

(७) भिध्या– विषयों का ध्यान।

(८) अभिध्या– चित्त की चचलता।

(९) कामाशा– इष्ट रूप और शब्द की प्राप्ति की इच्छा करना।

(१०) भोगाशा– इष्ट गन्ध आदि की प्राप्ति की इच्छा करना।

(७) कुरूप– निन्दित रीति से मोह उत्पन्न कर ठगने की प्रवृत्ति।

(८) जिह्मता– कुटिलता पूर्वक ठगने की प्रवृत्ति।

(९) किल्विष– किल्विषो सरीखी प्रवृत्ति करना।

(१०) आदरणा (आचरणा)– मायाचार से किसी वस्तु का आदर करना अथवा ठगाई के लिये अनेक प्रकार की क्रियाएं करना।

(११) गूहनता– अपने स्वरूप को छिपाना।

(१२) वञ्चनता– दूसरे को ठगना।

(१३) प्रतिकुञ्चनता– सरल भाव से कहे हुए वाक्य का खंडन करना या विपरीत अर्थ लगाना।

(१४) सातियोग– उत्तम पदार्थ के साथ हीन (तुच्छ) पदार्थ मिला देना। (समवायांग ५२ में से)

८३७– लोभ के चौदह नाम

लोभ कषाय के समानार्थक चौदह नाम हैं–

(१) लोभ– सचित्त या अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना।

(२) इच्छा– किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा।

(३) मूर्च्छा– प्राप्त की हुई वस्तुओं की रक्षा करने की निरन्तर अभिलाषा।

(४) कांक्षा– अप्राप्त वस्तु की इच्छा।

(५) गृद्धि– प्राप्त वस्तुओं पर आसक्तिभाव।

(६) तृष्णा– प्राप्त अर्थ का व्यय न हो ऐसी इच्छा।

(७) भिध्या– विषयों का ध्यान।

(८) अभिध्या– चित्त की चचलता।

(९) कामाशा– इष्ट रूप और शब्द की प्राप्ति की इच्छा करना।

(१०) भोगाशा– इष्ट गन्ध आदि की प्राप्ति की इच्छा करना।

देश की अपेक्षा वह अप्रदेश है। एक समय से अधिक दूसरे तीसरे समय में रहता हुआ वही जीव काल की अपेक्षा अप्रदेश कहलाता है। निम्न लिखित चौदह द्वारों से सप्रदेशी और अप्रदेशी का विचार किया जायगा।

सपएसा आहारग भविय सन्नि लेस्सा दिट्ठि संजय कसाए।
णाणे जोगुवओगे, वेदे य शरीर पज्जत्ती॥

(१) सप्रदेश (२) आहारक (३) भव्य (४) संज्ञी (५) लेश्या (६) दृष्टि (७) संयत (८) कषाय (९) ज्ञान (१०) योग (११) उपयोग (१२) वेद (१३) शरीर (१४) पर्याप्ति।

(१) सप्रदेश द्वार--सामान्य जीव काल की अपेक्षा सप्रदेश है। नैरयिक जीव कभी सप्रदेश और कभी अप्रदेश दोनों प्रकार के होते हैं अर्थात् जिस नैरयिक जीव को उत्पन्न हुए अभी एक ही समय हुआ है वह जीव काल की अपेक्षा अप्रदेश कहलाता है और जिस जीव को उत्पन्न हुए एक समय से अधिक हो गया है वह नैरयिक जीव सप्रदेश कहलाता है। एक वचन की अपेक्षा से ऐसा कथन किया गया है। बहु वचन की अपेक्षा इस प्रकार जानना चाहिए-- उपपात विरह की अपेक्षा अर्थात् जब कोई भी नैरयिक उत्पन्न नहीं होता उस समय सभी नैरयिक जीव सप्रदेश कहलाते हैं। पूर्वोत्पन्न नैरयिकों में जब एक नैरयिक उत्पन्न होता है तब एक जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश यह भंग पाया जाता है। जब बहुत से जीव उत्पन्न होते रहते हैं तब बहुत जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश यह भंग पाया जाता है। इसी तरह सब जीवों में जानना चाहिए।

(२) आहारक-- सामान्य जीव और एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर आहारक जीवों में उपरोक्त तीन भांगे पाए जाते हैं अर्थात् कभी 'सप्रदेश और कभी अप्रदेश' होते हैं। कभी 'एक जीव अप्रदेश

कहलाता है। इसके चौदह भेद हैं–

(१) हास्य– जिसके उदय से जीव को हँसी आवे।

(२) रति– जिस के उदय से सांसारिक पदार्थों में रुचि हो।

(३) अरति–जिसके उदय से धर्म कार्यों में जीव की अरुचि हो।

(४) भय– सात प्रकार के भय की उत्पत्ति।

(५) शोक– जिसके उदय से शोक, चिन्ता, रुदन आदि हों।

(६) जुगुप्सा–जिस के उदय से पदार्थों पर घृणा उत्पन्न हो।

(७) क्रोध– गुस्सा, कोप।

(८) मान– घमण्ड, अहंकार, अभिमान।

(९) माया– कपटाई (सरलता का न होना)।

(१०) लोभ– लालच, तृष्णा या गृद्धि भाव।

(११) स्त्री वेद– जिसके उदय से स्त्री को पुरुष की इच्छा होती है।

(१२) पुरुष वेद–जिसके उदय से पुरुष को स्त्री की इच्छा होती है।

(१३) नपुंसक वेद– जिसके उदय से नपुंसक को स्त्री और पुरुष दोनों की इच्छा होती है।

(१४) मिथ्यात्व– मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न होना या विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यात्व कहा जाता है।

(ठाणांग १ सूत्र ४८ परिग्रह के अन्तर्गत)

८४१– सप्रदेशी अप्रदेशी के चौदह बोल

जो जीव एक समय की स्थिति वाला है वह काल की अपेक्षा अप्रदेश कहलाता है। जिस जीव की स्थिति एक समय से अधिक हो चुकी है वह काल की अपेक्षा सप्रदेश कहलाता है। सप्रदेश और अप्रदेश का स्वरूप बताने वाली निम्न लिखित गाथा है–

जो जस्स पढमसमए वट्टइ भावस्स सो उ अपएसो।
अण्णम्मि वट्टमाणो कालाएसेण सपएसो॥

अर्थात्– जो जीव प्रथम समय में जिस भाव में रहता है काला-

देश की अपेक्षा वह अप्रदेश है। एक समय से अधिक दूसरे तीसरे समय में रहता हुआ वही जीव काल की अपेक्षा अप्रदेश कहलाता है। निम्न लिखित चौदह द्वारों से सप्रदेशी और अप्रदेशी का विचार किया जायगा।

सपएसा आहारग भविय सन्नि लेस्सा दिट्ठि संजय कसाए।
णाणे जोगुवओगे, वेदे य शरीर पज्जत्ती ॥

(१) सप्रदेश (२) आहारक (३) भव्य (४) संज्ञी (५) लेश्या (६) दृष्टि (७) संयत (८) कषाय (९) ज्ञान (१०) योग (११) उपयोग (१२) वेद (१३) शरीर (१४) पर्याप्ति।

(१) सप्रदेश द्वार– सामान्य जीव काल की अपेक्षा सप्रदेश है। नैरयिक जीव कभी सप्रदेश और कभी अप्रदेश दोनों प्रकार के होते हैं अर्थात् जिस नैरयिक जीव को उत्पन्न हुए अभी एक ही समय हुआ है वह जीव काल की अपेक्षा अप्रदेश कहलाता है और जिस जीव को उत्पन्न हुए एक समय से अधिक हो गया है वह नैरयिक जीव सप्रदेश कहलाता है। एक वचन की अपेक्षा से ऐसा कथन किया गया है। बहु वचन की अपेक्षा इस प्रकार जानना चाहिए– उपपात विरह की अपेक्षा अर्थात् जब कोई भी नैरयिक उत्पन्न नहीं होता उस समय सभी नैरयिक जीव सप्रदेश कहलाते हैं। पूर्वोत्पन्न नैरयिकों में जब एक नैरयिक उत्पन्न होता है तब एक जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश यह भंग पाया जाता है। जब बहुत से जीव उत्पन्न होते रहते हैं तब बहुत जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश यह भंग पाया जाता है। इसी तरह सब जीवों में जानना चाहिए।

(२) आहारक– सामान्य जीव और एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर आहारक जीवों में उपरोक्त तीन भांगे पाए जाते हैं अर्थात् कभी 'सप्रदेश और कभी अप्रदेश' होते हैं। कभी 'एक जीव अप्रदेश

और बहुत जीव सप्रदेश' और कभी 'बहुत जीव अप्रदेश और बहुत जीव सप्रदेश' इस प्रकार तीनों भंग पाए जाते हैं। अनाहारक जीवों में छः भंग पाए जाते हैं

(१) कुछ सप्रदेश (२) कुछ अप्रदेश (३) कोई एक सप्रदेश और कोई एक अप्रदेश (४) कोई एक सप्रदेश और बहुत अप्रदेश (५) कुछ (बहुत) सप्रदेश और कोई एक अप्रदेश (६) कुछ (बहुत) सप्रदेश और कुछ (बहुत) अप्रदेश।

(३) भव्यत्व द्वार– जिस तरह सामान्य जीव का कथन किया गया है उसी तरह भवसिद्धिक (भव्य) और अभवसिद्धिक (अभव्य) जीवों के लिये भी जानना चाहिये। नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक (सिद्ध) जीवों में तीन भांगे पाये जाते हैं।

(४) सञ्ज्ञी द्वार– सञ्ज्ञी जीवों में तीन भांगे पाये जाते हैं। असञ्ज्ञी जीवों में एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर तीन भागे पाये जाते हैं। नैरयिक,देव और मनुष्यों में अनाहारक की तरह छः भांगे पाये जाते हैं। नोसञ्ज्ञी नोअसञ्ज्ञी (सिद्ध) जीवों में तीन भांगे पाये जाते हैं।

(५) लेश्याद्वार– सलेश्य (लेश्या वाले) जीवों का कथन सामान्य जीवों की तरह है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों में आहारक जीवों की तरह तीन भांगे पाये जाते हैं। तेजोलेश्या वाले जीवों में तीन भांगे होते हैं किन्तु पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय और तेजोलेश्या वाले जीवों में छः भंग पाये जाते हैं।

(६) दृष्टिद्वार– सम्यग्दृष्टि जीवों में सामान्य जीवों की तरह तीन भांगे पाये जाते हैं। विकलेन्द्रियों में छः और मिथ्यादृष्टियों में एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर तीन भाँगे पाये जाते हैं। मिश्रदृष्टि जीवों में छः भाँगे पाये जाते हैं।

(७) संयत द्वार– संयत जीवों में तीन, एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर असंयत जीवों में तीन और संयतासंयत जीवों में तीन भंग

पाये जाते है। नोसयत नोअसंयत नोसंयतासयत जीव (सिद्धों) में तीन भग पाये जाते है।

(८) कपाय द्वार– सकपायी (कपाय वाले) जीवों में सामान्य जीवों की तरह तीन भग पाये जाते है। सकपायी एकेन्द्रियों में सिर्फ एक भग पाया जाता है। क्रोध कपायी जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भग और देवों में छः भग पाये जाते है। मान और माया कपाय वालों में तीन और नैरयिक तथा देवों में छ भग होते हैं। लोभ कपाय वालों में तीन और नैरयिकों में छः भंग पाये जाते हैं। अकपायी मनुष्य और सिद्धों में तीन भग पाये जाते है।

(६) ज्ञान द्वार– ज्ञानवान्, आभिनिबोधिक ज्ञान वाले और श्रुतज्ञान वाले जीवों में काल की अपेक्षा सप्रदेश और अप्रदेश के तीन भग पाये जाते है और विकलेन्द्रियों में छ. भग पाये जाते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान वालों में तीन भग पाये जाते हैं। ओघिक अज्ञान, मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान वाले जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भग और विभग ज्ञान वाले जीवों में तीन भंग पाये जाते है।

(१०) योग द्वार– सयोगी में सामान्य जीव की तरह भग पाये जाते हैं। मनयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीवों में तीन भग होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के काययोग ही होता है। उनमें सिर्फ एक ही भग होता है। अयोगी जीवों में और सिद्धों में तीन भग होते है।

(११) उपयोग द्वार– साकार उपयोग और अनाकार उपयोग वाले जीवों में एकेन्द्रिय को छोड कर तीन भग होते हैं।

(१२) वेद द्वार– स्त्रीवेद, पुरुपवेद और नपुसक वेद वाले जीवों में तीन भग होते है किन्तु नपुसक एकेन्द्रिय जीवों में केवल

एक ही भंग पाया जाता है। अवेदक मनुष्य और सिद्धों में तीन भंग होते हैं।

(१३) शरीर द्वार–सशरीरी जीवों का कथन सामान्य जीवों की तरह जानना चाहिये। औदारिक और वैक्रिय शरीर वाले जीवों में एकेन्द्रियों को छोड़ कर तीन भंग, आहारक शरीर वाले मनुष्यों में छः भंग होते हैं। तैजस और कार्मण शरीर वाले जीवों में तीन भंग होते हैं। अशरीरी जीवों में तीन भंग होते हैं।

(१४) पर्याप्ति द्वार–आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति वाले जीवों में एकेन्द्रियों को छोड़ कर तीन भंग पाये जाते हैं। भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति वाले जीवों में संज्ञी जीवों की तरह तीन भंग होते हैं। अपर्याप्त जीवों में अनाहारक की तरह एकेन्द्रिय को छोड़ कर छः भांगे पाये जाते हैं। शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास पर्याप्तियों से अपर्याप्त जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग होते हैं। नैरयिक, देव और मनुष्यों में छः भंग होते हैं। भाषा और मनःपर्याप्ति से अपर्याप्त जीवों में तीन और नैरयिक, देव और मनुष्यों में छः भंग पाये जाते हैं।

(भगवती शतक ६ उद्देशा ४)

८४२– पढमापढम के चौदह द्वार

जीव आदि चौदह द्वारों में प्रथम अप्रथम का कथन किया गया है। वे द्वार ये हैं–

(१) जीव (२) आहारक (३) भवसिद्धिक (४) संज्ञी (५) लेश्या (६) दृष्टि (७) संयत (८) कषाय (९) ज्ञान (१०) योग (११) उपयोग (१२) वेद (१३) शरीर (१४) पर्याप्ति।

(१) जीवद्वार– जीव जीवत्व की अपेक्षा प्रथम नहीं किन्तु अप्रथम है। इसी प्रकार नारकी से लेकर वैमानिक देवों पर्यन्त समझना चाहिए। सिद्ध जीव सिद्धत्व की अपेक्षा प्रथम है, अप्रथम

नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जीव को जिस वस्तु (भाव) की प्राप्ति पहले कई बार हुई है उसकी अपेक्षा वह अप्रथम कहा जाता है, जैसे जीव को जीवत्व अनादि काल से प्राप्त है अतः जीवत्व की अपेक्षा जीव अप्रथम कहलाता है। जो भाव जीव को कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं उनकी अपेक्षा वह प्रथम कहलाता है, जैसे सिद्धत्व की अपेक्षा जीव प्रथम है क्योंकि जीव को सिद्धत्व (सिद्धपना) पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुआ है।

(२) आहारक– आहारक जीव आहारक भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। चौवीस ही दण्डकों में इसी प्रकार समझना चाहिये। अनाहारक जीव अनाहारक भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं और सिद्ध जीव प्रथम होते हैं अप्रथम नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि सिद्ध और विग्रहगति प्राप्त जीव अनाहारक होते हैं। सिद्धत्व का अनाहारक भाव प्रथम है क्योंकि ऐसा अनाहारक भाव जीव को पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था। विग्रहगति के अनाहारकत्व की अपेक्षा जीव अप्रथम है क्योंकि एक गति से दूसरी गति में जाता हुआ जीव विग्रहगति के अनाहारक भाव को अनन्त वार प्राप्त कर चुका है। चौवीस ही दण्डक के जीवों के विषय में इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

(३) भवसिद्धिक द्वार– भवसिद्धिक जीव भवसिद्धिक भाव की अपेक्षा अप्रथम है। इसी तरह अभवसिद्धिक जीव अभवसिद्धिक (सिद्ध) भाव की अपेक्षा अप्रथम है। नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक जीव इन दोनों भावों की अपेक्षा अर्थात् नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक भाव (सिद्धत्व) की अपेक्षा प्रथम है, अप्रथम नहीं।

(४) सन्नी द्वार– सन्नी जीव सन्नी भाव की अपेक्षा अप्रथम है। विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और स्थावर

काय के जीवों को छोड़ कर शेष सोलह दण्डकों में इसी प्रकार समझना चाहिए। असंज्ञी जीव संज्ञी भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। वाणव्यन्तर देवों तक ऐसे ही समझना चाहिए क्योंकि असंज्ञी जीव मर कर वाणव्यन्तरों तक ही जा सकते हैं। पृथ्वी आदि असंज्ञी जीव असंज्ञीभाव की अपेक्षा अप्रथम हैं क्योंकि पृथ्व्यादि जीवों ने अनन्त ही बार असंज्ञी भाव प्राप्त किया है। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी जीव (सिद्ध) नोसंज्ञी नोअसंज्ञी भाव की अपेक्षा प्रथम हैं।

(५) लेश्या द्वार— सलेश्य (लेश्या वाले) जीव सलेश्य भाव की अपेक्षा अप्रथम है। कृष्णलेश्या से शुक्ल लेश्या तक इसी प्रकार जानना चाहिये। लेश्या रहित जीव अलेश्य भाव की अपेक्षा प्रथम है, अप्रथम नहीं।

(६) दृष्टि द्वार—सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर शेष उन्नीस ही दण्डकों में इसी तरह समझना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि जो जीव पहली ही बार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है उस अपेक्षा से वह प्रथम है। जो जीव एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त कर उससे गिर गया है, दूसरी बार जब वह वापिस सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है तब सम्यग्दृष्टि भाव की अपेक्षा वह अप्रथम कहा जाता है। एकेन्द्रिय जीवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता इस लिए वे इस द्वार में नहीं लिये गये हैं।

सम्यग्दृष्टि भाव की अपेक्षा सिद्ध प्रथम हैं क्योंकि सिद्धत्व सहित सम्यग्दर्शन मोक्ष जाने के समय प्रथम बार ही प्राप्त होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादृष्टि भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं क्योंकि मिथ्यादर्शन अनादि है। मिश्रदृष्टि भाव का कथन सम्यग्दृष्टि की तरह समझना चाहिये अर्थात् मिश्रदृष्टि जीव मिश्रदृष्टि भाव की अपेक्षा कभी प्रथम और कभी अप्रथम दोनों तरह के होते हैं।

(७) संयत द्वार– संयत जीव संयत भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। असंयत भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। संयतासंयत जीव, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय और मनुष्य संयतासंयत भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। नोसंयत नोअसंयत और नोसंयतासंयत जीव अर्थात् सिद्ध इन भावों की अपेक्षा प्रथम हैं अप्रथम नहीं क्योंकि सिद्धत्व भाव प्रथम बार ही प्राप्त होता है।

(८) कषाय द्वार– सकषायी अर्थात् क्रोध कषायी से लेकर लोभ कषायी तक के जीव सकषायी भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं। अकषायी मनुष्य अकषायी भाव की अपेक्षा कभी प्रथम और कभी अप्रथम दोनों तरह के होते हैं किन्तु अकषायी (सिद्ध) सिद्धत्व सहित अकषायी भाव की अपेक्षा प्रथम हैं।

(९) ज्ञान द्वार– ज्ञानी जीव ज्ञान की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं किन्तु केवलज्ञानी केवलज्ञान की अपेक्षा प्रथम ही होते हैं। अकेवली जीव मति आदि चार ज्ञानों की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम होते हैं। अज्ञानी जीव अर्थात् मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी और विभङ्ग ज्ञानी जीव इन भावों की अपेक्षा अप्रथम हैं।

(१०) योग द्वार– सयोगी अर्थात् मनयोगी, वचन योगी और काय योगी जीव तीनों योगों की अपेक्षा अप्रथम हैं। अयोगी जीव अयोगी भाव की अपेक्षा प्रथम हैं।

(११) उपयोग द्वार– साकारोपयोग और अनाकारोपयोग वाले जीव इन दोनों भावों की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं। चौबीस ही दण्डक के जीव साकारोपयोग और अनाकारोपयोग भाव की अपेक्षा अप्रथम हैं और सिद्धपद की अपेक्षा प्रथम हैं क्योंकि साकारोपयोग और अनाकारोपयोग विशिष्ट सिद्धत्व की प्राप्ति प्रथम बार ही होती है।

(१२) वेद द्वार–सवेदी अर्थात् पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी और नपुंसक वेदी जीव तीनों वेदों की अपेक्षा अप्रथम हैं। अवेदी भाव में मनुष्य अवेदक भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं और सिद्ध अवेदक भाव की अपेक्षा प्रथम हैं।

(१३) शरीर द्वार–सशरीरी अर्थात् औदारिक आदि शरीर वाले जीव इन शरीरों की अपेक्षा अप्रथम हैं। आहारक शरीर वाले जीव आहारक शरीर भाव की अपेक्षा प्रथम और अप्रथम दोनों तरह के होते हैं।

(१४) पर्याप्त द्वार– पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त और पाँच पर्याप्तियों से अपर्याप्त जीव इन भावों की अपेक्षा अप्रथम हैं।

उपरोक्त चौदह द्वारों में प्रथम और अप्रथम बतलाने का अभिप्राय यह है कि जिन जीवों को जो भाव पहले प्राप्त हो गए हैं उनकी अपेक्षा वे जीव अप्रथम कहे जाते हैं और जिन जीवों को जो भाव पहले प्राप्त नहीं हुए हैं उनकी अपेक्षा वे प्रथम कहे जाते हैं।

(भगवती शतक १८ उद्देशा १)

८४३– चरमाचरम के चौदह बोल

जिसका अन्त हो जाता है वह चरम कहलाता है। जिसका कभी भी अन्त नहीं होता वह अचरम कहलाता है। चरमाचरम का विचार चौदह द्वारों से किया गया है। वे इस प्रकार हैं–

(१) जीव द्वार– जीव जीवत्व भाव की अपेक्षा अचरम हैं क्योंकि जीवत्व भाव की अपेक्षा जीव का कभी भी अन्त नहीं होता।

नैरयिक जीव नैरयिक भाव की अपेक्षा चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो जीव नरक से निकल कर मनुष्यभव आदि में जन्म लेता है और वहाँ से फिर नरक में नहीं जाता किन्तु मोक्ष में चला जाता है अर्थात् नरक से

निकल कर फिर कभी वापिस नरक में नहीं जाता वह जीव नैरयिक भाव की अपेक्षा चरय कहलाता है। जो जीव नरक से निकल कर मनुष्य आदि भव करके फिर दुबारा नरक में जाता है वह नैरयिक भाव की अपेक्षा अचरम कहलाता है। इसी प्रकार चौवीस ही दण्डकों में समझना चाहिए। सिद्ध सिद्धत्व की अपेक्षा अचरम है।

(२) आहारक द्वार– आहारक जीव आहारकभाव की अपेक्षा चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। अनाहारक जीव अचरम ही होते हैं, चरम नहीं।

(३) भव सिद्धिक द्वार– भवसिद्धिक जीव चरम है क्योंकि मोक्ष जाने के समय भव्यत्व का अन्त हो जाता है। अभवसिद्धिक जीव अचरम हैं क्योंकि उनके अभव्यत्व का कभी अन्त नहीं होता। नोभवसिद्धिक नोअभवसिद्धिक (सिद्ध) अचरम है।

(४) सज्ञी द्वार– सज्ञी जीव और असंज्ञी जीव चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। नोसज्ञी नोअसंज्ञी (सिद्ध) अचरम हैं किन्तु मनुष्य पद की अपेक्षा सिद्ध चरम हैं क्योंकि मनुष्य सम्बन्धी सज्ञीभाव को छोड़ कर वे सिद्ध हो जाते हैं।

(५) लेश्या द्वार– लेश्या सहित जीव अर्थात् कृष्ण लेश्या से लेकर शुक्ल लेश्या तक के जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। लेश्यारहित (सिद्ध) अचरम है।

(६) दृष्टि द्वार– सम्यग्दृष्टि जीव का कथन अनाहारक के समान है अर्थात् सम्यग्दृष्टिभाव की अपेक्षा एक जीव अचरम है क्योंकि सम्यग्दर्शन से गिर कर जीव फिर सम्यग्दर्शन अवश्य प्राप्त करता है। सिद्ध अचरम हैं क्योंकि वे सम्यग्दर्शन से गिरते नहीं हैं। जो सम्यग्दृष्टि नैरयिक नैरयिक अवस्था में फिर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करेंगे वे चरम हैं और शेष अचरम। मिथ्यादृष्टि का कथन अनाहारक की तरह है अर्थात् जो जीव निर्वाण को प्राप्त करेंगे

वे मिथ्यात्व की अपेक्षा चरम हैं, शेष अचरम। मिथ्यादृष्टि नैरयिक जो फिर मिथ्यात्व सहित नैरयिक भाव प्राप्त नहीं करेंगे वे चरम हैं, शेष अचरम। मिश्रदृष्टि जीव चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। चौवीस दण्डकों में इसी प्रकार जानना चाहिए किन्तु एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों को छोड कर ऐसा जानना चाहिए क्योंकि ये जीव मिश्रदृष्टि नहीं होते।

(७) सयत द्वार– सयत जीव चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं। जिन जीवों को फिर से सयत भाव प्राप्त नहीं होगा वे चरम हैं, शेष अचरम। असयत जीव भी चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। इसी तरह सयतासयत (देशविरत) भी चरमाचरम होते हैं। नोसयत नोअसयत नोसयतासयत (सिद्ध) अचरम हैं।

(८) कषाय द्वार– सकषायी (क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी) चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। अकषायी जीव और सिद्ध चरम नहीं किन्तु अचरम हैं। अकषायी मनुष्य पद की अपेक्षा चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं।

(९) ज्ञान द्वार– ज्ञानी (मति ज्ञानी से मन पर्यय ज्ञानी तक) चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। केवलज्ञानी अचरम है क्योंकि केवलज्ञान प्राप्त कर लेने पर फिर प्राणी केवलज्ञान से गिरता नहीं। अज्ञानी (मति अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी और विभगज्ञानी) चरम और अचरम दोनों तरह के होते हैं।

(१०) योग द्वार– सयोगी (मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी) चरम और अचरम दोनों होते हैं। अयोगी जीव अचरम होते हैं।

(११) उपयोग द्वार– साकारोपयोग और अनाकारोपयोग वाले जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं।

(१२) वेद द्वार– सवेदक (पुरुषवेदी, स्त्रीवेदी, नपुँसकवेदी) जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। अवेदक जीव

(सिद्ध) अचरम होते हैं।

(१३) सशरीरी– (औदारिक शरीर से कार्मण शरीर तक) जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं। अशरीरी जीव (सिद्ध) अचरम होते हैं।

(१४) पर्याप्त द्वार– पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त और पाँच पर्याप्तियों से अपर्याप्त जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार के होते हैं।

चरमाचरम को बतलाने वाली यह गाथा है–

जो जं पाविहिन्ति पुणो भावं, सो तेण अचरिमो होई।
अच्चन्त विओगो जस्स, जेण भावेण सो चरिमो॥

अर्थात्– जीव को जिन भावों की प्राप्ति फिर से दुबारा होगी उस भाव की अपेक्षा वह जीव अचरम कहलाता है। जिस भाव का जीव के साथ अत्यन्त वियोग हो जाता है अर्थात् जिन भावों की प्राप्ति जीव को फिर से दुबारा नहीं होगी उन भावों की अपेक्षा वह जीव चरम कहलाता है। (भगवती शतक १८ उद्देशा १)

८४४– महानदियाँ चौदह

जम्बूद्वीप के अन्दर चौदह महानदियाँ पूर्व और पश्चिम की तरफ से लवण समुद्र में गिरती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

(१) गंगा (२) सिन्धु (३) रोहिता (४) रोहितंसा (५) हरि (६) हरिकंता (७) सीता (८) सीतोदा (६) नरकान्ता (१०) नारीकान्ता (११) सुवर्णकूला (१२) रूप्यकूला (१३) रक्ता (१४) रक्तवती। (समवायांग १४)

८४५– चौदह राजू परिमाण लोक

पाँच अस्तिकायों के समूह को लोक कहते हैं अर्थात् जहाँ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय जिस क्षेत्र में पाए जायँ

उसे लोक कहा जाता है। लोक से बाहर आकाश के सिवाय कुछ नहीं है। सातवीं पृथ्वी के नीचे लोक के अन्तिम भाग से लेकर सिद्ध शिला के उपर एक योजन तक लोक का परिमाण चौदह राजू परिमाण है।

स्वयम्भूरमण समुद्र की पूर्ववेदिका से लेकर पश्चिम वेदिका पर्यन्त की दूरी को रज्जु कहते हैं। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की टिप्पणी में लिखा है- लोक की अवगाहना चौदह राजू परिमाण है। यहाँ राजू दो प्रकार का है- औपचारिक और पारमार्थिक। साधारण लोगों की बुद्धि स्थिर करने के लिए दृष्टान्त देना औपचारिक राजू है। जैसे-

जोयणलक्खपमाणं, निमेसमत्तेण जाइ जो देवो।
ता छम्मासे गमणं, एग रज्जु जिणा बिंति ॥

अर्थात्-देवता एक निमेष (आँख की पलक गिरने में जितना समय लगता है, उसे निमेष कहते हैं) में एक लाख योजन जाता है। यदि वह छः मास तक लगातार इसी गति से चलता रहे तो एक राजू होता है। यह औपचारिक राजू का परिमाण है।

तिर्यग्लोक के असंख्यात द्वीप समुद्र परिमाण पारमार्थिक राजू होता है।

लोक के भेद-

चौदह राजू परिमाण लोक तीन भागों में बँटा हुआ है- ऊर्ध्व लोक, मध्यलोक (तिर्यग्लोक) और अधोलोक। तिर्यग्लोक की अवगाहना अठारह सौ योजन है। तिर्यग्लोक के बीचोबीच जम्बूद्वीप में रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल भूभाग पर मेरु पर्वत के बिल्कुल मध्य में आठ रुचक प्रदेश हैं। वे गोस्तन के आकार वाले हैं। चार ऊपर की तरफ उठे हुए हैं और चार नीचे की तरफ। इन्हीं रुचक प्रदेशों की अपेक्षा से सभी दिशाओं तथा विदिशाओं

का भान होता है। रुचक प्रदेशों के नव सौ योजन ऊपर तथा नव सौ योजन नीचे तक मध्य लोक (तिर्यग्लोक) है। तिर्यग्लोक के नीचे अधोलोक और ऊपर ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक की अवगाहना कुछ कम सात राजू परिमाण और अधोलोक की कुछ अधिक सात राजू परिमाण है। रुचक प्रदेशों के नीचे असंख्यात करोड़ योजन जाने पर रत्नप्रभा पृथ्वी में चौदह राजू रूप लोक का मध्यभाग आता है अर्थात् वहाँ से ऊपर तथा नीचे लोक का परिमाण ठीक सात राजू रह जाता है।

लोक का संस्थान–

जामा पहन कर, कमर पर हाथ धर कर नाचते हुए भोपे का जैसा आकार होता है, वैसा ही लोक का आकार है अर्थात् लोक नीचे चौड़ा है, मध्य में सकड़ा हो जाता है, कुछ ऊपर जाकर फिर एक बार चौड़ा हो जाता है। सब से ऊपर जाकर फिर सकड़ा हो जाता है अर्थात् एक राजू चौड़ाई रह जाती है। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में लोक की आकृति सुप्रतिष्ठक और वज्र के समान बताई है। सुप्रतिष्ठक एक प्रकार का बर्तन होता है जो नीचे से चौड़ा, बीच में सकड़ा तथा ऊपर कुछ चौड़ा होकर फिर सकड़ा हो जाता है। वज्र का आकार भी ऐसा ही होता है।

अधोलोक का संस्थान गाय की गर्दन के समान है क्योंकि अधोलोक में रही हुई सातों पृथ्वियाँ नीचे नीचे एक दूसरे से अधिक विस्तृत हैं।

तिर्यग्लोक झल्लरी (एक तरह का बाजा) या थाली सरीखा है। ऊर्ध्वलोक मृदङ्ग (ढोल) के आकार वाला है अर्थात् बीच में चौड़ा और दोनों किनारों पर सकुचित है।

(तत्त्वार्थ सूत्र सभाष्य अध्याय ३, सूत्र ६)

प्रवचनसारोद्धार में इसका स्वरूप यों दिया है– अधोलोक

उल्टे रक्खे हुए सकोरे सरीखा है और ऊर्ध्वलोक एक दूसरे के मुँह पर रक्खे हुए दो सकोरों सरीखा है। इस प्रकार नीचे एक सकोरा उल्टा, उस पर एक सकोरा सीधा तथा उस पर फिर एक उल्टा रखने पर लोक का संस्थान बन जाता है।

लोक का नक्शा बनाने तथा उसके परिमाण को ठीक ठीक समझने के लिए नीचे लिखी विधि उपयोगी है–

एक इञ्च लम्बी ५७ रेखाएँ खींचें। रेखाओं के बीच में इञ्च का चौथा भाग व्यवधान रहना चाहिए। उन रेखाओं के दोनों तरफ से लम्बी पंक्तियाँ खींचें। प्रत्येक पंक्ति १४ इञ्च लम्बी होनी चाहिए। इस प्रकार ५६ कोष्ठक बन जाएँगे। यहाँ एक राजू की जगह एक इञ्च की कल्पना की गई है। प्रत्येक कोष्ठक की लम्बाई एक राजू और ¼ राजू है। चार कोष्ठक मिलाने से एक वर्ग राजू हो जायगा अर्थात् एक राजू चौड़ाई और एक राजू लम्बाई हो जायगी। विशेष सुविधा के लिए उन लम्बी पंक्तियों के बीच फिर तीन लम्बी लाइनें खींचनी चाहिए। ऐसा करने पर प्रत्येक कोष्ठक की लम्बाई चौड़ाई बराबर अर्थात् ¼ राजू रह जायगी। इस कोष्ठक को ¼ राजू कहा जायगा। एक राजू चौड़ी और चौदह राजू लम्बी इस नाली में ¼ वर्ग राजुओं की संख्या २२४ है। इन्हें पादरज्जु, खण्डरज्जु या पाव राजू भी कहा जा सकता है। यह नली लोक के बीचोबीच है। इसे त्रसनाडी कहा जाता है। इस के बाहर त्रस जीवों की उत्पत्ति नहीं होती।

(१) चौदह राजू परिमाण लोक के सब से नीचे वाले राजू में तमस्तम प्रभा नाम की सातवीं पृथ्वी है। इसका विस्तार सात राजू परिमाण है। एक राजू त्रसनाडी में है, बाकी दोनों तरफ तीन तीन। खण्ड रज्जुओं को तिरछे रखने से २८ खण्डरज्जु

होते हैं। उस में से चार त्रसनाड़ी में हैं और बारह बारह पसवाड़ों में। एक पूरे राजू अर्थात् चार खण्ड राजुओं की ऊँचाई तक चौडाई बराबर है। इस प्रकार तमस्तमःप्रभा पृथ्वी में ११२ खण्ड राजू हैं।

(२) तमस्तमः प्रभा के ऊपर एक राजू की अवगाहना वाली छठी पृथ्वी तमःप्रभा है। इसका विस्तार साढे छः राजू है। त्रसनाड़ी में एक राजू और उसके बाहर दोनों तरफ पौने तीन तीन राजू है। चौड़ाई में खण्ड रज्जु २६ हैं। चार त्रसनाडी में और ग्यारह ग्यारह दोनों तरफ। कुल खण्ड रज्जु १०४ हैं।

(३) तमःप्रभा के ऊपर एक राजू की अवगाहना वाली पाँचवीं पृथ्वी धूमप्रभा है। इसका विस्तार छः राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी में और अढाई अढाई राजू दोनों तरफ। चौड़ाई में खण्डरज्जु २४ हैं। चार त्रसनाड़ी में और दस दस दोनों तरफ। कुल खण्डरज्जु ९६ हैं। सातवीं पृथ्वी से लेकर पाँचवीं तक दोनों तरफ से एक एक खण्डरज्जु कम होता जाता है।

(४) धूमप्रभा के ऊपर चौथे राजू में एक राजू की अवगाहना वाली चौथी पृथ्वी पङ्कप्रभा है। इसका विस्तार पाँच राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी में और दो दो राजू दोनों तरफ। चौड़ाई में खण्ड रज्जु २० हैं। चार त्रसनाड़ी में और आठ आठ दोनों तरफ। कुल खण्डरज्जु ८० हैं।

(५) पङ्कप्रभा के ऊपर पाँचवें राजू में वालुकाप्रभा है। इस की भी अवगाहना एक राजू है। चौड़ाई चार राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी में और डेढ़ डेढ़ राजू दोनों तरफ। चौड़ाई में खण्डरज्जु १६ हैं। चार बीच में और छह छह दोनों तरफ। कुल खंडरज्जु ६४ हैं।

(६) वालुका प्रभा के ऊपर छठे राजू में शर्कराप्रभा नाम की दूसरी पृथ्वी है। इस की अवगाहना एक राजू है। चौड़ाई अढाई राजू है। एक राजू त्रसनाड़ी के बीच है और पौन पौन

३/४ प्रत्येक तरफ। चौड़ाई में खण्डरज्जु १० हैं। चार त्रसनाडी में और तीन तीन दोनों तरफ। कुल खण्डरज्जु ४० हैं।

(७) शर्करा प्रभा के ऊपर सातवें राजू में एक राजू की अवगाहना वाली रत्न प्रभा है। इस की चौड़ाई भी एक राजू है। रत्न प्रभा त्रसनाडी से बाहर नहीं है। इसमें तिरछे चार खण्ड रज्जु हैं। कुल सोलह खण्ड रज्जु हैं।

इन सातों पृथ्वियों में सात नरक हैं। इनका विस्तार इसके दूसरे भाग के बोल नं० ५६० में दिया गया है।

रत्नप्रभा के ऊपर नौ सौ योजन तक तथा भीतर नौ सौ योजन तक तिर्छा लोक है, इसमें मनुष्य और तिर्यञ्च निवास करते हैं। जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, इस प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सब के बीच में एक लाख योजन लम्बा और एक लाख योजन चौड़ा जम्बूद्वीप थाली के आकार वाला है। उसे घेरे हुए दो लाख योजन चौड़ा चूड़ी के आकार वाला लवण समुद्र है। इसी प्रकार दुगुने दुगुने परिमाण वाले एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। सब के अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है, जो असंख्यात हजार योजन विस्तार वाला है।

(८) रत्न प्रभा पृथ्वी के ऊपर नौ सौ योजन बाद ऊर्ध्वलोक शुरू हो जाता है। आठवें राजू के पहले दो खण्ड राजुओं तक चौड़ाई एक राजू है। उनमें त्रसनाडी से बाहर कोई खण्डराजू नहीं है। ऊपर के दो खण्ड राजुओं में चौड़ाई डेढ राजू है अर्थात् आठवें राजू में लोक के नीचे का आधा भाग एक राजू चौड़ा है और ऊपर का डेढ राजू चौड़ा है। आठवें राजू लोक में कुल २० खण्ड राजू हैं।

(९) नवें राजू के पहले खण्ड में दो राजू चौड़ाई है। एक राजू त्रसनाडी में और आधा आधा राजू दोनों तरफ। उसमें खण्ड राजू

आठ है। दूसरे [illegible]
तीसरे और चौथे [illegible]

(१०) नवें राजू के [illegible]
हिस्से अर्थात् दो खण्डों [illegible]
है। ऊपर के दो खण्डों में [illegible]

(११) ग्यारहवें राजू के नीचे [illegible]
चौड़ाई है और ऊपर वाले आधे हिस्से [illegible]

(१२) बारहवें राजू के नीचे वाले दो खण्डों [illegible]
राजू है और ऊपर वाले दो खण्डों में अढ़ाई राजू है।

(१३) तेरहवें राजू के पहले एक खण्ड में [illegible]
है और ऊपर के तीन खण्डों में दो राजू है।

(१४) चौदहवें राजू के नीचे वाले दो खण्डों में डेढ़ राजू
चौड़ाई है और ऊपर वाले दो खण्डों में एक राजू है।

अधोलोक में कुल ५१२ खण्डरज्जु हैं। अधोलोक के सात राजुओं के अट्ठाईस भाग करने पर प्रत्येक भाग में नीचे लिखे अनुसार खण्ड हैं- पहले के चारों में अट्ठाईस अट्ठाईस (कुल ११२)। पाँचवें से लेकर आठवें तक छब्बीस छब्बीस (कुल १०४)। नवें से लेकर बारहवें तक चौबीस चौबीस (कुल ९६)। तेरहवें से लेकर सोलहवें तक बीस बीस (कुल ८०)। सतरहवें से लेकर बीसवें तक सोलह सोलह (कुल ६४)। इकीसवें से लेकर चौबीसवें तक दस दस (कुल ४०)। पचीसवें से लेकर अट्ठाईसवें तक चार चार (कुल १६)। अट्ठाईस विभागों अर्थात् पूरे सात राजुओं के सब विभागों को मिला कर ५१२ खण्ड राजू हो जाते हैं।

ऊर्ध्वलोक में ३०४ खण्ड रज्जु होते हैं। उसके भी अट्ठाईस खण्ड करने पर प्रत्येक खण्ड में खण्डरज्जु नीचे लिखे अनुसार हैं- पहले भाग में ४, दूसरे में ४, तीसरे में ६, चौथे में ६, पाँचवें में

८, छठे में १०, सातवें में १२, आठवें में १२, नवें में १६, दसवें में १६, ग्यारहवें में २०, बारहवें में २०, तेरहवें में २०, चौदहवें में २०, पन्द्रहवें में १६, सोलहवें में १६, सतरहवें में १२, अठारहवें में १२ उन्नीसवें में १०, बीसवें में १०, इक्कीसवें में १०, बाईसवें में ८, तेईसवें मे ८, चौबीसवें में ८, पचीसवें में ६, छब्बीसवें में ६, सत्ताईसवें में ४ और अट्ठाईसवें में भी ४। कुल मिला कर ३०४ होते हैं।

रज्जु तीन प्रकार के होते हैं- (क) सूचीरज्जु (ख) प्रतररज्जु और (ग) घनरज्जु। एक ही श्रेणी में रक्खे हुए चार खण्ड रज्जु मिल कर एक सूचीरज्जु होता है। सूचीरज्जु की लम्बाई एक राजू और मोटाई तथा ऊँचाई एक खण्डरज्जु होती है।

एक दूसरे पर रक्खे हुए चार सूचीरज्जुओं का एक प्रतर रज्जु होता है। प्रतर रज्जु की लम्बाई और चौड़ाई पूरा राजू है और मोटाई एक खण्ड राजू। इसमें सोलह खण्ड राजू होते हैं। चार प्रतर राजुओं को पास पास रखने पर एक घनराजू हो जाता है। घनराजू की लम्बाई, ऊँचाई और मोटाई सभी एक राजू हैं। इसमें ६४ खण्ड राजू होते हैं।

अधोलोक में खण्ड राजुओं की संख्या ५१२ है। उन्हें १६ से भाग देने पर ३२ प्रतर राजुओं की संख्या निकल आती है। ऊर्ध्वलोक में १९ प्रतर राजू हैं। ३०४ को १६ से भाग देने पर इतनी ही संख्या निकल आती है। सारे लोक में ५१ प्रतररज्जु हैं।

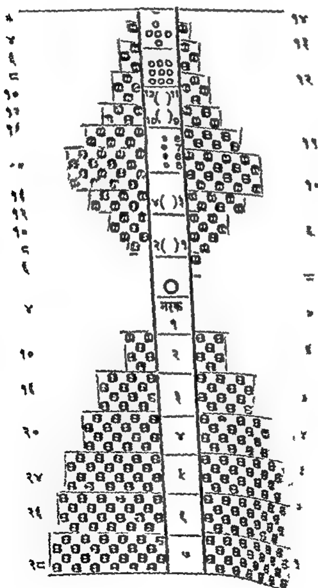
सम्पूर्ण लोक में घन राजुओं की संख्या ३४३ है। यह संख्या जानने की विधि नीचे लिखे अनुसार है-

नीचे से लेकर ऊपर तक लोक चौदह राजू परिमाण है। नीचे कुछ कम सात राजू, मध्य में एक राजू, ब्रह्मलोक के मध्य में पाँच राजू और लोक के अन्त में एक राजू विस्तार वाला है। बाकी स्थानों पर उस का विस्तार कम ज्यादह है। घन करने के लिए

लोक का आकार

घन राजुओं की संख्या

राजू संख्या



इसे समचतुरस्र अर्थात् चारों तरफ से समान बनाना चाहिए। ऊर्ध्वलोक में त्रसनाड़ी सात राजू परिमाण ऊँची तथा एक राजू चौड़ी है। उसके दाईं और बाईं तरफ अधिक से अधिक लोक का विस्तार दो राजू परिमाण है। अगर बाए पसवाडे के दो भागों को उल्टा करके अर्थात् नीचे वाले भाग को ऊपर तथा ऊपर वाले को नीचे करके दाए पसवाडे के साथ जोड़ दिया जाय तो सब जगह बराबर दो राजू चौड़ा हो जायगा। उसके साथ त्रसनाड़ी को मिलाने से तीन राजू चौड़ा और सात राजू लम्बा एक दण्ड बन जाता है। उसकी मोटाई ब्रह्मदेवलोक के पास पाँच राजू और दूसरी जगह कम ज्यादह रहेगी।

अधोलोक में भी त्रसनाड़ी सात राजू परिमाण है। उसके बाईं और दाईं तरफ अधिक से अधिक तीन तीन राजू लोक विस्तार है। अगर उस के बाए पसवाडे को उल्टा करके दाईं तरफ लगा दिया जाय तो तीन राजू चौड़ाई सब जगह हो जाएगी। उस में एक राजू त्रसनाड़ी मिलाने से चार राजू चौड़ा और सात राजू ऊँचा एक दण्ड बन जाता है। मोटाई में यह भाग कहीं सात राजू चौड़ा और कहीं उससे कम रहेगा।

चौड़ाई की तरह मोटाई को भी ऊपर लिखे अनुसार बैठाने से दोनों बराबर हो जाती है। इस प्रकार सात राजू लम्बा और सात राजू चौड़ा घनलोक बन जाता है। सात को तीन बार गुणा देने से ३४३ होते हैं, क्योंकि ७×७=४९। ४९×७=३४३। यही सारे लोक में घनराजुओं की संख्या है। बराबर लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई वाली वस्तु के एक तरफ के परिमाण को इस प्रकार गुणा करने से घन का परिमाण निकल आता है। यह संख्या व्यवहार को लेकर बताई गई है।

निश्चय से तो २४९ घन रज्जु होते हैं। प्रत्येक खण्ड में खण्ड

राजुओं की जो संख्या हो उसे उसी से गुणा करने पर उस खण्ड के वर्गखण्ड राजुओं की संख्या निकल आती है, जैसे लोकान्त खण्ड में चार खण्ड राजू हैं, उनका वर्ग १६ हो जायगा। इसी प्रकार ५६ खण्डों के वर्गों को मिलाने पर १५२६६ वर्ग खण्ड राजू होंगे। एक घन राजू में चौंसठ खण्ड राजू होते हैं। इस लिए ऊपर की संख्या को ६४ से भाग देने पर २४६ निकल आते हैं।

ऊर्ध्वलोक के पहले ६ खण्डों में अर्थात् डेढ राजू तक पहले दो देवलोक हैं– सौधर्म और ईशान। उनके ऊपर चार खण्ड अर्थात् एक राजू में सनत्कुमार और माहेन्द्र दो देवलोक हैं। उस के ऊपर दस खण्ड अर्थात् ढाई राजू में ब्रह्मलोक, लान्तक, शुक्र और सहस्रार नामक चार देवलोक हैं। उसके ऊपर चार खण्ड अर्थात् एक राजू में आणत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक चार देवलोक हैं। उसके बाद चार खण्डों में अर्थात् सब से ऊपर वाले राजू में क्रमशः नवग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और सिद्ध शिला है।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार १४३, गाथा ९०२–९१७)

(सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र तृतीय अध्याय) (भगवती शतक १३ उद्देशा ४)

(भगवती शतक ५ उद्देशा ६)

८४६– मार्गणास्थान चौदह

मार्गणा अर्थात् गुणस्थान, योग, उपयोग आदि की विचारणा के स्थानों (विषयों) को मार्गणास्थान कहते हैं। गोम्मटसार के जीवकांड की गाथा १४० में इसकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार दी है–

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे, सुयणाणे मग्गणा होंति ॥

अर्थात्– जिन पदार्थों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में जीव की विचारणा सर्वज्ञ की दृष्टि के अनुसार की जाय वे पर्याय मार्गणा स्थान हैं। वे चौदह हैं–

गइ इंदिए य काये, जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजम दंसणलेस्सा, भवसम्मे सन्नि आहारे ॥
(कर्म ग्र ४ गाथा ६)

अर्थात् - मार्गणास्थान के गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार ये चौदह भेद हैं।

(१) गति- जीव के जो पर्याय गति नामकर्म के उदय से होते हैं और जिनके कारण जीव देव, मनुष्य, तिर्यञ्च या नारकी कहा जाता है, उसे गति कहते हैं।

(२) इन्द्रिय- अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाले स्पर्शन, नेत्र आदि जिन साधनों से सरदी, गर्मी तथा काले पीले आदि विषयों का ज्ञान होता है वे इन्द्रिय हैं।

(३) काय- जिसकी रचना और वृद्धि औदारिक, वैक्रिय आदि यथायोग्य पुद्गल स्कन्धों से होती है ऐसे शरीर नामकर्म के उदय से बनने वाले शरीर को काय कहते हैं।

(४) योग- वीर्यशक्ति के जिस परिस्पन्द (हलन चलन) से गमन, भोजन आदि क्रियाएं होती हैं और जो परिस्पन्द शरीर, भाषा तथा मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होता है, वह योग है।

(५) वेद- वेदमोहनीय कर्म के उदय से होने वाली काम-चेष्टा जन्य सुख के अनुभव की इच्छा को वेद कहते हैं।

(६) कषाय- किसी पर नाराज होना या आसक्त होना आदि मानसिक विकार जो कषायमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं और कर्मबन्ध के कारण हैं वे कषाय कहे जाते हैं।

(७) ज्ञान- वस्तु को विशेष रूप से जानने वाले चेतना शक्ति के व्यापार (उपयोग) को ज्ञान कहते हैं।

(८) संयम- कर्म बाँधने वाले कार्यों को छोड़ देना संयम है।

(९) दर्शन– वस्तु को सामान्य रूप से जानने वाले उपयोग को दर्शन कहते हैं।

(१०) लेश्या– आत्मा के साथ कर्म का मेल कराने वाले परिणाम विशेष को लेश्या कहते हैं।

(११) भव्यत्व– मोक्ष पाने की योग्यता को भव्यत्व कहते हैं।

(१२) सम्यक्त्व– आत्मा की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद जीव बाह्य वस्तुओं की उपेक्षा करके आत्मचिन्तन की ओर झुकता है और मोक्ष की इच्छा करने लगता है। सम्यक्त्व वाला जीव तत्त्वों पर श्रद्धा करता है और सच्चे देव, गुरु और धर्म को ही मानता है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये पाँच उसके लक्षण हैं।

(१३) सञ्ज्ञित्व– विशेष प्रकार की मनःशक्ति अर्थात् दीर्घ काल तक रहने वाली सञ्ज्ञा (समझ या बोध) का होना सञ्ज्ञित्व है।

(१४) आहारकत्व– किसी न किसी प्रकार के आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है। आहार तीन प्रकार का है–

(क) ओज आहार– उत्पत्ति क्षेत्र में पहुँच कर अपर्याप्त अवस्था में तैजस और कार्मण शरीर द्वारा जीव जिस आहार को ग्रहण करता है उसे ओजाहार कहते हैं।

(ख) लोमाहार– त्वचा और रोंगटों से ग्रहण किया जाने वाला आहार।

(ग) कवलाहार– मुख द्वारा ग्रहण किया जाने वाला अन्न पानी आदि का आहार।

मार्गणास्थान के अवान्तर भेद

(१) गति के चार भेद हैं– देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति।

(२) इन्द्रिय मार्गणास्थान के पाँच भेद– एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय

तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

(३) कायमार्गणास्थान के छः भेद– पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

(४) योग के तीन भेद–मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

(५) वेद के तीन भेद– पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद।

(६) कषाय के चार भेद– क्रोध, मान, माया और लोभ।

(७) ज्ञानमार्गणा के आठ भेद– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, विभगज्ञान।

(८) सयममार्गणास्थान के सात भेद– सामायिकसयम, छेदोपस्थापनीयसयम, परिहारविशुद्धिसयम, सूक्ष्मसम्परायसयम, यथाख्यातसयम, देशविरति और अविरति।

(९) दर्शनमार्गणा के चार भेद– चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

(१०) लेश्या के छः भेद– कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

(११) भव्यत्वमार्गणा के दो भेद– भव्य और अभव्य।

(१२) सम्यक्त्वमार्गणा के छः भेद–

(क) औपशमिक सम्यक्त्व– अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शनमोहनीय के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्वरुचि रूप आत्म परिणाम औपशमिक सम्यक्त्व है। इसके दो भेद हैं– ग्रन्थिभेद-जन्य और उपशमश्रेणिभावी। (अ) ग्रन्थिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है। इसके प्राप्त होने की प्रक्रिया निम्न लिखित है–

जीव अनादि काल से ससार में घूम रहा है और तरह तरह के दु ख उठा रहा है जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पड़ा हुआ पत्थर लुढ़कते लुढ़कते इधर उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना

बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी अनन्त काल से दुःख सहते सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम एक कोड़ाकोडी सागरोपम जितनी कर देता है। इसी परिणाम को शास्त्र में यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव राग द्वेष की मजबूत गांठ के पास तक पहुँच जाता है, किन्तु उसे भेद नहीं सकता, इसी को ग्रन्थि-देश प्राप्ति कहते हैं। कर्म और राग द्वेष की यह गांठ क्रमशः दृढ और गूढ रेशमी गाँठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति को कोड़ाकोडी सागरोपम के अन्दर करके वे भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु उसे भेद नहीं सकते।

भव्य जीव जिस परिणाम से राग द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड कर लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में अपूर्वकरण कहते हैं। इस प्रकार का परिणाम जीव को बारबार नहीं आता, कदाचित् ही आता है, इसी लिए इसे अपूर्वकरण कहते है। यथाप्रवृत्ति-करण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है किन्तु अपूर्व-करण भव्य जीवों को भी अधिक बार नहीं आता।

अपूर्वकरण द्वारा राग द्वेष की गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध हो जाते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना नहीं लौटता। इसी लिए इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। उस समय जीव की शक्ति और बढ जाती है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्त-मुहूर्त प्रमाण है। इस का एक भाग शेष रहने पर अन्तःकरण की क्रिया शुरू होती है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्म दलिकों को आगे पीछे कर दिया

जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने वाले कर्म दलिकों के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ऐसा हो जाता है कि जिस में मिथ्यात्व मोहनीय का कोई कर्मदलिक नहीं रहता। अत एव जिसका अबाधा काल पूरा हो चुका है ऐसे मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इन में से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नहीं रहता। अनिवृत्तिकरण बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट या असंदिग्ध प्रतीति होने लगती है, जैसे जन्मान्ध पुरुष को नेत्र मिलने पर। मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है जैसा किसी पुराने और भयङ्कर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के वे पुद्गल जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय होने वाले बनाया है, वे उदय में आजाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिए जाते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा तथा अन्तरकरण काल कहते हैं। प्रथम स्थिति के चरम समय में अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुञ्ज करता है जो औपशमिक सम्यक्त्व के

बाद उदय में आने वाला होता है। जिस प्रकार कोद्रव धान्य (कोदों नाम के धान्य) को औषधियों से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने वाले को बिल्कुल नशा नहीं आता। दूसरा भाग अर्द्ध शुद्ध और तीसरा अशुद्ध रह जाता है। इसी द्वितीय स्थिति गत मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुञ्जों में से एक पुञ्ज इतना शुद्ध हो जाता है कि उस में सम्यक्त्वघातक रस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ति) नहीं रहता। दूसरा पुञ्ज आधा शुद्ध और तीसरा अशुद्ध ही रह जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुञ्ज उदय में आता है। उस से सम्यक्त्व का घात नहीं होता। उस समय प्रकट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्द्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुञ्ज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुञ्ज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द हो जाता है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाएं बाकी रहने पर किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव के चढ़ते परिणामों में विघ्न पड़ जाता है अर्थात् उसकी शान्ति भङ्ग हो जाती है। उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से जीव सम्यक्त्व परिणाम को छोड़ कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। जब तक वह मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाओं तक सास्वादन भाव का अनुभव करता है, उस समय जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव ही सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो

सकता है, दूसरा नहीं।

उपशमश्रेणिभावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है, परन्तु आठवें गुणस्थान में तो उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। औपशमिक सम्यक्त्व के समय आयुबन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी कषाय बन्ध तथा उसका उदय ये चार बातें नहीं होतीं किन्तु उससे गिरने पर सास्वादन भाव के समय उक्त चारों बातें हो सकती हैं।

(ख) अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से होने वाला तत्त्वरुचि रूप परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

(ग) ऊपर लिखी प्रकृतियों के क्षय से होने वाला तत्त्वरुचि रूप परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति केवली के समय में होने वाले मनुष्यों को ही होती है। जो जीव आयुबन्ध करने के बाद इसे प्राप्त करते हैं वे तीसरे या चौथे भव में मोक्ष पाते हैं। अगले भव की आयु बाँधने से पहले जो जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं वे उसी भव में मुक्त हो जाते हैं।

(घ) औपशमिक सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होते समय जीव का जो परिणाम होता है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। इस की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिकाएं होती हैं। अनन्तानुबन्धी का उदय होने के कारण इस समय जीव के परिणाम निर्मल नहीं होते। सास्वादन में अतत्त्वरुचि अव्यक्त होती है और मिथ्यात्व में व्यक्त, यही दोनों में अन्तर है।

(ङ) मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले तत्त्व और अतत्त्व दोनों की रुचि रूप मिश्र परिणाम को मिश्र सम्यक्त्व (सम्यङ्मिथ्यात्व) कहते हैं।

(च) जिस के होने से जीव जड़ चेतन का भेद न जान सके, आत्मोन्मुख प्रवृत्ति वाला न हो सके, मिथ्यात्व मोहनीय के उदय

मे होने वाले जीव के ऐसे परिणाम को मिथ्यात्व कहते है। हठ, कदाग्रह आदि दोप इसी के फल है।

(१३) संज्ञी मार्गणा के दो भेद– संज्ञित्व और असंज्ञित्व ।

(१४) आहारक मार्गणा के दो भेद–आहारक और अनाहारक।

(कर्मग्रन्थ ४)

८४७ – गुणस्थान चौदह

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों अर्थात् क्रमिक विकास की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

मोक्ष का अर्थ है आध्यात्मिक विकास की पूर्णता। यह पूर्णता एकाएक प्राप्त नहीं हो सकती। अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ जीव धीरे धीरे उन्नति करके उस अवस्था को पहुँचता है। आत्म-विकास के उस मार्ग में जीव जिन जिन अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उन्हें गुणस्थान कहा जाता है। भारत के प्रायः सभी दर्शनों ने जीव के विकास क्रम को माना है। परिभाषा तथा प्रतिपादन शैली का भेद होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उनमें बहुत समानता मालूम पड़ती है।

आध्यात्मिक विकास का विचार करते समय जीव को मुख्य तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है–

(क) पहली अवस्था वह है जिस में जीव अनन्त काल से घूमता आ रहा है। आत्मा स्थायी सुख और पूर्ण ज्ञान के लिए तरसता है। दुःख और अज्ञान को बिल्कुल पसन्द नहीं करता, फिर भी वह अज्ञान और दुःख के चक्कर में पड़ा हुआ है। यहाँ दो प्रश्न खड़े होते हैं – आत्मा सुख और ज्ञान को क्यों पसन्द करता है ? तथा दुःख और अज्ञान से छुटकारा प्राप्त करने की इच्छा अनादि काल से होते हुए भी उसे छुटकारा क्यों नहीं मिलता ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर शास्त्रकारों ने दिया है।

यह एक प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। जब तक वह अपने स्वभाव को पूर्णतया प्राप्त न कर ले तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती अर्थात् तब तक उस में स्वभाव को प्राप्त करने की प्रगति बराबर होती रहती है। पानी स्वभाव से ठण्डा होता है। अग्नि आदि के कृत्रिम उपायों से गरम होने पर भी वह शीघ्र अपने स्वभाव में आने का प्रयत्न करता है और ठण्डा हो जाता है। अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख जीव का स्वभाव है, इस लिए जीव भी उन्हें प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न करता रहता है। जब तक अपने स्वभाव में लीन नहीं होता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव सुख तथा ज्ञान को चाहता हुआ भी उनकी प्राप्ति के वास्तविक उपाय को नहीं जानता। जैसे रोगी कुपथ्य से होने वाले भयङ्कर परिणाम को भूल कर उसे सेवन करने में ही सुख समझता है और सेवन करने के बाद भयङ्कर कष्ट उठाता है, उसी प्रकार जीव कामभोगों में सुख समझ कर उनका सेवन करता है और फिर भयङ्कर कष्ट उठाता है। वास्तविक सुख का उपाय न जानने के कारण ही जीव अनन्त संसार में भटकता रहता है। अज्ञान और द्वेष के प्रबल संस्कारों के कारण वह वास्तविक सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कभी थोड़ा सा भान होने पर भी वह सुख की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

अज्ञान चेतना का विरोधी है। इस लिए जब तक अज्ञान की तीव्रता रहती है तब तक चेतना का स्फुरण बहुत मन्द होता है अर्थात् तब तक खरे सुख और उसके साधनों का भान नहीं होता। किसी विषय में सुख की धारणा करके आत्मा प्रवृत्त होता है, किन्तु परिणाम में निराशा होने से दूसरे विषय की तरफ दौड़ता है। दूसरे विषय में निराशा होने पर तीसरे की ओर झुकता है। जिस तरह

भँवर जाल में पड़ी हुई लकड़ी चक्कर काटती रहती है उसी प्रकार जीव संसार चक्र में भटकता रहता है। अनन्त काल तक भटकने के बाद किसी किसी जीव का अज्ञान कुछ कम होता है तो भी राग और द्वेष के कारण सच्चे सुख की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता। अज्ञान की मन्दता के कारण जीव को ऐसा भान बहुत बार होता है कि सुख और दुःख बाह्य वस्तुओं में नहीं है, अपने ही परिणामों के कारण आत्मा सुखी और दुखी होता है फिर भी राग और द्वेष की तीव्रता के कारण वह ठीक मार्ग में प्रवृत्ति नहीं कर सकता। मोह के कारण पूर्वपरिचित विषयों को ही सुख या दुःख का साधन मान कर उन्हीं में हर्ष और विषाद का अनुभव करता है। ऐसे समय में जीव का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता इस लिए वह विकास की ओर अग्रसर भी नहीं होता। इसी स्थिति को आध्यात्मिक विकास काल की स्थिति कहा जाता है।

(ख) अज्ञान तथा राग द्वेष के चक्र का बल सदा एक समान नहीं रहता। आत्मिक बल कर्मों के बल से अनन्तगुणा है, इस लिए आत्मा में जब शुभ भाव आते हैं तो कर्मों का बल एकदम घट जाता है। जिस प्रकार लाखों मन घास के लिए आग की एक चिनगारी पर्याप्त है, उसी प्रकार शुभ भाव रूपी आग कर्मों की महान् राशि को भस्मसात् कर देती है। जब आत्मा की चेतना जाग्रत होती है, राग और द्वेष कुछ ढीले पड़ते हैं तो आत्मा की शक्ति ठीक मार्ग पर काम करने लगती है। उसी समय आत्मा अपने ध्येय को निश्चित करके उसे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय करता है और उसके लिए प्रवृत्ति भी करता है। उसी समय आध्यात्मिक विकास की नींव रक्खी जाती है। इसके बाद आत्मा अपनी ज्ञान और वीर्य शक्तियों द्वारा राग और द्वेष के साथ युद्ध करने लगता है। कोई आत्मा लगातार विजय प्राप्त करता जाता है और अन्त

में उनको समूल नष्ट करके कैवल्य अथवा मुक्ति प्राप्त कर लेता है। कोई कोई आत्मा राग द्वेष की प्रबलता के कारण एक आध बार हार भी जाता है तो फिर दुगुने उत्साह से प्रवृत्त होता है। पुराने अनुभव के कारण बढ़े हुए ज्ञान और वीर्य से वह राग द्वेष को दबाता है। जैसे जैसे दबाने में सफल होता है उसका उत्साह और ज्ञान बढ़ता जाता है। उत्साहवृद्धि के साथ साथ आनन्द भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार जीव राग द्वेप के बन्ध को निर्बल करता हुआ अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता जाता है। इस अवस्था को आध्यात्मिक विकास की अवस्था कहते हैं।

(ग) आध्यात्मिक विकास जब पूर्ण हो जाता है तो तीसरी अवस्था आती है। इस अवस्था में जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसी को सिद्धि, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण आदि शब्दों से कहा जाता है।

वैदिक दर्शन

उपनिषद् तथा अध्यात्म शास्त्र के दूसरे ग्रन्थों में आत्मा के विकासक्रम को भी बताया गया है, किन्तु इसका व्यवस्थित तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन योग दर्शन पर रचे हुए व्यासभाष्य आदि में है। दूसरे ग्रन्थों में इतना पूर्ण नहीं है, इस लिये वैदिक दर्शनों में आत्मा के विकासक्रम की मान्यता इन्हीं ग्रन्थों से बताई गई है।

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने मोक्षसाधन के रूप में योग का वर्णन किया है। योग का अर्थ है आध्यात्मिक विकासक्रम की भूमिकाएं। योग जहाँ से प्रारम्भ होता है वह आत्मविकास की पहली भूमिका है। योग की पूर्णता के साथ ही आत्मविकास भी पूर्ण हो जाता है। योग प्रारम्भ होने से पहले की अवस्था आध्यात्मिक अविकास की अवस्था है।

योग भाष्यकार महर्षि व्यास ने चित्त की पाँच भूमियाँ बताई हैं—

(१) क्षिप्त (२) मूढ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) निरुद्ध । इन पाँचों में पहली दो अर्थात् क्षिप्त और मूढ अविकास की अवस्थाएं हैं। तीसरी विक्षिप्त भूमिका अविकास और विकास का सम्मेलन है, किन्तु उस में विकास की अपेक्षा अविकास का बल अधिक है। चौथी एकाग्र भूमिका में विकास का बल अधिक है। वह बढते हुए पाँचवीं निरुद्ध भूमिका में पूरा हो जाता है। पाँचवीं भूमिका के बाद मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

बौद्धदर्शन

बौद्ध साहित्य के मूल ग्रन्थ पिटक कहे जाते हैं। पिटकों में अनेक जगह आध्यात्मिक विकास के क्रम का व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन है। वहाँ व्यक्ति की छः स्थितियाँ की गई हैं—(१) अन्धपुथुज्जन (२) कल्याणपुथुज्जन (३) सोतापन्न (४) सकदागामी (५) औपपातिक (६) अरह। पहली स्थिति आध्यात्मिक अविकास का काल है। दूसरी स्थिति में विकास थोड़ा और अविकास अधिक होता है। तीसरी से छठी तक आध्यात्मिक विकास बढ़ता जाता है। छठी स्थिति में वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसके बाद जीव निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन

जैन आगमों में आध्यात्मिक विकासक्रम के लिए चौदह गुणस्थान बताए गए हैं। इनके नाम और स्वरूप आगे दिए जाएंगे। चौदह गुणस्थानों में पहला अविकास काल है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में विकास का किंचित् स्फुरण होता है। उनमें प्रबलता अविकास की ही रहती है। चौथे गुणस्थान में जीव विकास की ओर निश्चित रूप से बढ़ता है। चौदहवें गुणस्थान में विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है और उसके बाद मोक्ष हो जाता है।

इसी प्राचीन विकास क्रम को हरिभद्रसूरी ने दूसरे प्रकार से

लिखा है। अविकास काल को उन्होंने ओघदृष्टि तथा विकास काल को सद्दृष्टि का नाम दिया है। सद्दृष्टि के मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नाम वाले आठ विभाग हैं। इनमें विकास का क्रम उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। मित्रा आदि पहली चार दृष्टियों में विकास होने पर भी अज्ञान और मोह की प्रबलता होती है। स्थिरा आदि पिछली चार दृष्टियों में ज्ञान और चारित्र की अधिकता तथा मोह की कमी हो जाती है।

दूसरे प्रकार के वर्णन में हरिभद्रसूरि ने आध्यात्मिक विकास के क्रम को योग के रूप में वर्णन किया है। योग के उन्होंने पाँच भाग किए हैं– अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिक्षय।

ये दोनों प्रकार के विचार प्राचीन जैन गुणस्थान के विचारों का नवीन पद्धति से वर्णन मात्र है।

आजीवक दर्शन

इस दर्शन का स्वतन्त्र साहित्य और सम्प्रदाय नहीं है, तो भी इनके आध्यात्मिक विकासक्रम सम्बन्धी विचार बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। आजीवक दर्शन में आठ पेढियाँ मानी गई हैं– मन्दा, खिड्डा, पदवीमंसा, उजुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। इन आठों में पहले की तीन अविकास काल तथा पीछे की पाँच विकासकाल की हैं। उसके बाद मोक्ष हो जाता है।

गुणस्थान का सामान्य स्वरूप

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञानपूर्ण होती है। यह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास द्वारा निकलता है। धीरे धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णता अर्थात् अन्तिम हद को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से निकल कर विकास की अन्तिम

अवस्था को प्राप्त करना ही आत्मा का परमसाध्य है। इस परमसाध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, ऐसी अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणी को विकासक्रम या उत्क्रान्तिमार्ग कहते हैं। जैन शास्त्रों में इसे गुणस्थान कहा जाता है। इस विकासक्रम के समय होने वाली आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का सक्षेप १४ भागों में कर दिया है। ये चौदह भाग गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर साहित्य में गुणस्थान, सक्षेप, श्रोध, सामान्य और जीवसमास शब्दों से भी कहे जाते हैं। चौदह गुणस्थानों में उत्तरोत्तर विकास की अधिकता है। विकास की न्यूनाधिकता आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता, समाधि, अन्तर्दृष्टि, स्वभावरमण, स्वोन्मुखता, इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य (न्यूनाधिकता) दर्शन और चारित्र की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शनशक्ति का जितना अधिक विकास, जितनी अधिक निर्मलता होती है उतना ही अधिक सद्विश्वास, सदरुचि, सद्भक्ति, सत् श्रद्धा और धर्म का आग्रह दृढ होता जाता है। दर्शन शक्ति के विकास के बाद चारित्र शक्ति के विकास का नम्बर आता है। चारित्र शक्ति का जितना अधिक विकास तथा निर्मलता होती है उतनी ही क्षमा, सन्तोष, गाम्भीर्य, इन्द्रियजय आदि गुणों का आविर्भाव होता है। जिस क्रियाकाण्ड से इन गुणों का विकास न हो उसे चारित्र का अङ्ग नहीं कहा जा सकता। दर्शन और चारित्र की विशुद्धि के साथ साथ आत्मा की स्थिरता भी बढ़ती जाती है। दर्शन व चारित्र शक्ति की विशुद्धि का बढ़ना घटना उन शक्तियों के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) संस्कारों की न्यूनता, अधिकता या मन्दता, तीव्रता पर अवलम्बित है। पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन और चारित्र का

विकास इस लिए नहीं होता कि उन में उन शक्तियों के प्रतिबन्धक दर्शनमोह और चारित्रमोह की अधिकता है। चौथे गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में प्रतिबन्धक सस्कार मन्द हो जाते हैं इस लिए उन गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिबन्धक (कषाय) संस्कारों के स्थूल दृष्टि से चार विभाग किए गए हैं। ये विभाग कषाय के सस्कारों की विपाक शक्ति के तरतमभाव (न्यूनाधिक) पर आश्रित हैं। उन में से पहला विभाग जो दर्शन शक्ति का प्रतिबन्धक है, उसे दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उन को यथाक्रम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कहते हैं।

प्रथम विभाग की तीव्रता न्यूनाधिक परिमाण में प्रथम दो गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इसी लिए पहले दो गुणस्थानों में तथा तीसरे में मिथ्यात्व का उदय होने से दर्शन शक्ति के आविर्भाव का सम्भव नहीं है। कषाय के उक्त प्रथम भाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेकख्याति, भेदज्ञान, प्रकृति पुरुषान्यता, साक्षात्कार और ब्रह्मज्ञान आदि नामों से कहा जाता है।

इसी शुद्ध दृष्टि से आत्मा जड चेतन का भेद असदिग्ध रूप से जान लेता है। यह उसके विकासक्रम की चौथी भूमिका है। इसी भूमिका से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है और अपने वास्तविक परमात्मस्वरूप को देखने लगता है। पहले के तीन गुणस्थानों में दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्मभाव को नहीं देख सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शन मोह आदि के वेग के कारण उस समय उस

की दृष्टि इतनी अस्थिर व चचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्मस्वरूप या ईश्वरत्व को नहीं देख सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है किन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म है इस लिए स्थिर व निर्मलदृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथा गुणस्थान परमात्मभाव या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार है, वहाँ पहुँचने पर जीव अन्तरात्मा हो जाता है,अर्थात् बाह्य वस्तुओं की ओर से हट कर आत्मचिन्तन ही उसका मुख्य कार्य हो जाता है। आत्मविकास के लिए सभी वस्तुओं को यहाँ तक कि तीन लोक की विभूतियों को छोडने के लिए तैयार रहता है। पहले तीन गुणस्थानो में जीव बहिरात्मा होता है अर्थात् उस समय वस्तुओं की ओर विशेष झुकाव रहता है।

चौथे गुणस्थान में दर्शन मोह का वेग कम होने पर भी चारित्र शक्ति को रोकने वाले सस्कारों का वेग रहता है अर्थात् उस समय अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है, इस लिए जीव किसी प्रकार का त्याग या नियम नहीं कर सकता। पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम हो जाता है इस से जीव की चारित्र शक्ति कुछ कुछ प्रकट होती है और वह इन्द्रिय जय और नियम आदि को थोडे बहुत रूप में करता है। श्रावक के बारह व्रत तक अङ्गीकार करता है। इसी को देशविरत चारित्र कहते है। छठे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय भी मन्द हो जाता है, उसमें आत्मा बाह्य भोगों से हट कर पूरा त्यागी बन जाता है। छठे गुणस्थान में संज्वलन कषाय के विद्यमान रहने से कभी कभी क्रोध आदि आ जाते हैं किन्तु उनसे चारित्र का विकास नहीं दबता केवल उसमें थोडा सा मैल आ जाता है। चारित्र की शुद्धि और स्थिरता में कुछ फरक पड़ जाता है। जिस प्रकार वायु के सामान्य झकोरे से दीपक की शिखा कम ज्यादह होती रहती है

किन्तु बुझती नहीं, इसी प्रकार सज्वलन कषाय के उदय से चारित्र की निर्मलता में फरक पड जाता है, आवरण नहीं होता। आत्मा जब सज्वलन कषाय को दबाता है तो सातवें गुणस्थान से बढ़ता हुआ ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान तक पहुँचता है। उपशमश्रेणी वाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है और वहाँ की स्थिति पूरी होने पर वापिस दसवें गुणस्थान में आ जाता है। फिर उपशान्त कर्म उदय में आ जाने से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। क्षपकश्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान में उन प्रकृतियों का सर्वथा क्षय कर ग्यारहवें में न जाकर सीधा बारहवें में चला जाता है। दर्शन और चारित्र दोनों शक्तियाँ उस समय पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इसके बाद जीव तेरहवें गुणस्थान में पहुँचता है। चारों घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से उस समय जीव को केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। फिर भी मन, वचन और काया (शरीर) रूप तीन योगों का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता पूर्ण नहीं होने पाती। चौदहवें गुणस्थान में वह पूर्ण हो जाती है। इस के बाद शीघ्र ही शरीर छूट जाता है और आत्मा अपने स्वभाव में लीन हो जाता है। इस के बाद आत्मा सदा एक सा रहता है, इसी को मोक्ष कहते हैं। आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास होना ही मोक्ष है।

गुणस्थानों के नाम और स्वरूप इस प्रकार हैं–

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान–मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस अवस्था में जीव की दृष्टि (श्रद्धा या ज्ञान) मिथ्या (उल्टी) होती है उस मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज को खाने वाले अथवा पीलिए रोग वाले को सफेद चीज भी पीली दिखाई देती है अथवा पित्त के प्रकोप वाले रोगी को मिश्री भी कड़वी लगती है इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव कुदेव में देवबुद्धि, कुगुरु में

गुरु बुद्धि और कुधर्म में धर्म बुद्धि रखता है। जीव की इसी अवस्था को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

(२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान– जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व वाला है परन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व प्राप्त नहीं करता तब तक सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। जीव की इस अवस्था को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका है।

इस गुणस्थान में यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर झुके हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है। अत एव इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

(३) सम्यङ्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान–मिश्र मोहनीय के उदय से जब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध) रहती है उसे सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है और जीव की इस अवस्था को सम्यङ्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न रहने से आत्मा में शुद्धता एवं मिथ्यात्व मोहनीय का उदय रहने से अशुद्धता रहती है, इसी लिए इस गुणस्थान में मिश्र परिणाम रहते हैं। जैसे गुड़ मिले हुए दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, इसी प्रकार इस अवस्था में जीव की श्रद्धा कुछ सच्ची तथा कुछ मिथ्या होती है। उस समय जीव किसी बात पर दृढ़ होकर विश्वास नहीं करता। इस गुणस्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता भी आ जाती है। इ[illegible] द्वारा कहे गए तत्त्वों पर न तो एका[illegible]

रुचि करता है और न एकान्त अरुचि। जिस प्रकार नारिकेल द्वीप निवासी पुरुष ओदन (भात) के विषय में न रुचि रखते हैं, न अरुचि। जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होते हैं, वहाँ के निवासियों ने चावल आदि अन्न न तो देखा है और न सुना है। इससे पहले बिना देखे और बिना सुने अन्न को देख कर वे न तो रुचि करते हैं और न अरुचि, किन्तु समभाव रखते हैं इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति कुछ न करके समभाव रखता है। इस प्रकार की स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही रहती है। इसके बाद सम्यक्त्व या मिथ्यात्व इन दोनों में से कोई प्रबल हो जाता है, अत एव तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानी गई है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान–सावद्य व्यापारों को छोड़ देना अर्थात् पापजनक व्यापारों से अलग हो जाना विरति है। चारित्र और व्रत, विरति का ही नाम है। जो जीव सम्यग्दृष्टि हो कर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि है और उसका स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं–

(क) जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं, ऐसे साधारण लोग।

(ख) जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं, ऐसे अपने आप तप करने वाले तपस्वी।

(ग) जो व्रतों को जानते नहीं किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं, ऐसे ढीले पासत्थे साधु जो संयम लेकर निभाते नहीं।

(घ) जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन बराबर करते हैं, ऐसे अगीतार्थ मुनि।

(ङ) जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार तथा पालन नहीं करते, जैसे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

(च) जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु पालन करते हैं जैसे अनुत्तर विमानवासी देव।

(छ) जो व्रतों को जान कर स्वीकार कर लेते हैं किन्तु पीछे उनका पालन नहीं कर सकते जैसे संविग्नपाक्षिक।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्ग्रहण (अच्छी तरह अंगीकार करना) और सम्यक्पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिन को व्रतों का अच्छी तरह ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का पालन नहीं करते वे जैसे तैसे व्रत पाल भी लेवें तो उनसे पूरा फल नहीं होता। उपरोक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार अविरत जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि उन्हें व्रतों का यथार्थज्ञान ही नहीं है। पिछले तीन प्रकार के अविरत जीव सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि वे व्रतों का यथाविधि ग्रहण या पालन न कर सकने पर भी उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि कोई जीव औपशमिक सम्यक्त्व वाले होते हैं और कोई क्षायिक सम्यक्त्व वाले होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि जीव व्रत-नियमादि को यथावत् जानते हुए भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते,क्योंकि उन्हें अप्रत्याख्यानावरण का उदय रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय चारित्र के ग्रहण तथा पालन को रोकता है।

(५) देशविरतगुणस्थान– प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त न होकर एक-देश से निवृत्त होते हैं वे देशविरत या श्रावक कहलाते हैं, ऐसे जीवों के स्वरूप को देशविरत गुणस्थान कहते हैं। कोई श्रावक एक व्रत को धारण करता है और कोई दो व्रतों को। इस प्रकार अधिक से अधिक व्रत धारण करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं जो पापकर्मों को दो करण तीन योग से छोड़ देते हैं। अनुमति तीन प्रकार की है–प्रतिसेवनानुमति, प्रतिश्रवणानुमति, संवासानुमति।

अपने या दूसरे के लिए बने हुए भोजन आदि का उपभोग करना 'प्रतिसेवनानुमति' है। पुत्र आदि किसी सम्बन्धी के द्वारा किए गए पापकर्म को सुन कर भी पुत्र आदि को उस पापकर्म से न रोकना 'प्रतिश्रवणानुमति' है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों के पापकर्म में प्रवृत्त होने पर उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना अर्थात् न तो पाप कर्मों को सुनना और न उनकी प्रशंसा करना 'संवासानुमति' है। जो श्रावक पापजनक आरम्भों में किसी प्रकार से योग नहीं देता, केवल संवासानुमति को सेवता है वह अन्य सब श्रावकों से श्रेष्ठ है।

(६) प्रमत्तसंयतगुणस्थान— जो जीव पापजनक व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं वे ही संयत (मुनि) हैं। संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं तब तक प्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनका स्वरूप विशेष प्रमत्तसंयत गुणस्थान है। संयत (मुनि) के सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है। वे संवासानुमति का भी सेवन नहीं करते। छठे गुणस्थान से लेकर आगे किसी गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता। इसी लिए वहाँ सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है।

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान— जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते वे अप्रमत्तसंयत हैं और उनका स्वरूप विशेष अप्रमत्तसंयतगुणस्थान है। प्रमाद सेवन से ही आत्मा अशुद्ध होता है इस लिए सातवें गुणस्थान से आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होने लगता है। सातवें गुणस्थान से लेकर आगे सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि प्रमाद का सेवन नहीं करते, वे अपने स्वरूप में सदा जाग्रत रहते हैं।

(८) निवृत्ति (निवृत्ति) बादर गुणस्थान— जिस जीव के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ चारों निवृत्त हो गए हों उसके स्वरूप विशेष को

नियट्टिबादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं-उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणी वाला जीव मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाकर अपडिवाई (अप्रतिपाती) हो जाता है।

जो जीव आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, जो प्राप्त कर रहे हैं और जो प्राप्त करेंगे उन सब जीवों के अध्यवसाय स्थानों (परिणाम भेदों) की संख्या असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर है। आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात समय होते हैं जिनमें से प्रथम समयवर्ती तीनों काल के जीवों के अध्यवसाय भी असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के तुल्य हैं। इस प्रकार दूसरे तीसरे आदि प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर ही हैं। असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। इस लिए एक एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या दोनों असंख्यात ही है, किन्तु असंख्यात होने पर भी वे दोनों तुल्य नहीं हैं।

यद्यपि आठवें गुणस्थान में रहने वाले तीनों कालों के जीव अनन्त हैं तथापि उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। इस का कारण यह है कि समान समयवर्ती जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में जुदे जुदे (न्यूनाधिक शुद्धि वाले) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धि वाले होने से जुदे जुदे नहीं माने जाते। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय कम शुद्धि वाले होते हैं वे जघन्य तथा जो अध्यवसाय अन्य अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धि वाले होते हैं

वे उत्कृष्ट कहे जाते हैं। इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का होता है और दूसरा उत्कृष्ट अध्यवसायों का। इन दो वर्गों के बीच में असंख्यात वर्ग हैं जिन के सब अध्यवसाय मध्यम कहलाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्तगुणी अधिक मानी गई है। बीच के सब वर्गों में पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर के अध्यवसाय विशेष शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि समसमयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से अनन्तभाग अधिक शुद्ध, असंख्यात भाग अधिक शुद्ध, संख्यात भाग अधिक शुद्ध, संख्यात गुण अधिक शुद्ध, असंख्यात गुण अधिक शुद्ध और अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते हैं। शुद्धि के इन छह प्रकारों को शास्त्र में षट्स्थान कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिए तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुण विशुद्ध समझने चाहिए।

आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। जैसे-स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थिति बन्ध।

(क) जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने अपने उदय के नियत समयों से हटा देना अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों की लम्बी स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा घटा देना स्थितिघात है।

(ख) बँधे हुए ज्ञानादि कर्मों के प्रचुर रस (फल देने की तीव्र शक्ति) को अपवर्तना करण के द्वारा मन्द कर देना रसघात है।

(ग) जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है अर्थात् जो कर्मदलिक अपने अपने उदय के नियत समयों से हटाए जाते हैं उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी है।

स्थापना का क्रम इस प्रकार है— उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं, उनमें से उदयावलिका के समयों को छोड़ कर शेष जितने समय रहते हैं उनमें से प्रथमसमय में जो दलिक स्थापित किए जाते हैं वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किए जाने वाले दलिक प्रथमसमय में स्थापित दलिकों से असंख्यात गुण अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समयपर्यन्त पर पर समय में स्थापित किए जाने वाले दलिकों से असंख्यातगुण ही समझने चाहिए।

(घ) जिन शुभ कर्मप्रकृतियों का बन्ध अभी हो रहा है उनमें पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण कर देना अर्थात् पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बँधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना गुणसंक्रमण कहलाता है।

गुणसंक्रमण का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है— प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृतियों में संक्रमण होता है, उनकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का संक्रमण होता है। इस प्रकार जब तक गुणसंक्रमण होता रहता है तब तक पूर्व पूर्व समय में संक्रामित दलिकों से उत्तर उत्तर समय में असंख्यात गुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

(ङ) पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्पस्थिति के कर्मों को बाँधना 'अपूर्वस्थितिबन्ध' कहलाता है।

स्थितिघात आदि पाँच बातें यद्यपि पहले के गुणस्थानों में भी

होती है किन्तु आठवें गुणस्थान में अपूर्व ही होती है क्योंकि पहले गुणस्थानों की अपेक्षा आठवें गुणस्थान में अध्यवसायों की शुद्धि अत्यन्त अधिक होती है। अत एव पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अति अल्प रस का घात होता है परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थिति का तथा अधिक रस का घात होता है। इसी तरह पहले के गुणस्थानों में गुणश्रेणी की कालमर्यादा अधिक होती है तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणी (रचना, स्थापना) की जाती है वे दलिक भी अल्प ही होते हैं। आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणी योग्य दलिक तो बहुत अधिक होते हैं परन्तु श्रेणी का कालमान बहुत कम होता है, तथा पहले गुणस्थानों की अपेक्षा आठवें गुणस्थान में गुणसंक्रमण बहुत कर्मों का होता है अत एव अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्पस्थिति के कर्म बाँधे जाते हैं कि जितनी अल्पस्थिति वाले कर्म पहले के गुणस्थानों में कभी नहीं बँधते। इस प्रकार स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थान का दूसरा नाम अपूर्वकरण गुणस्थान भी शास्त्र में प्रसिद्ध है।

जैसे राज्य पाने की योग्यता मात्र से राजकुमार राजा कहा जाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थानवर्ती जीव चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशमक या क्षपक कहलाते हैं। चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ तो नवें गुणस्थान में ही होता है, आठवें गुणस्थान में तो केवल उस की योग्यता होती है।

(९) अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान—सञ्ज्वलन क्रोध, मान और माया कषाय से जहाँ निवृत्ति न हुई हो ऐसी अवस्था विशेष को अनिवृत्ति (अनिवृत्ति) बादर गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसायस्थान नवें

गुणस्थान में माने जाते हैं, क्योंकि नवें गुणस्थान में जितने जीव समसमयवर्ती रहते हैं उन सब के अध्यवसाय एक सरीखे (तुल्य शुद्धि वाले) होते हैं, जैसे प्रथम समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय समान होते हैं इसी प्रकार दूसरे समय से लेकर नवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक तुल्य समय में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी तुल्य ही होते हैं। सभी तुल्य अध्यवसायों को एक ही अध्यवसायस्थान मान लिया जाता है, इस बात को समझने की सरल रीति यह भी है कि नवें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते हैं जितने उस गुणस्थान के समय हैं। एक एक वर्ग में चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त शक्तियाँ शामिल हों, परन्तु प्रतिवर्ग अध्यवसायस्थान एक ही माना जाता है, क्योंकि एक वर्ग के सभी अध्यवसाय शुद्धि में बराबर ही होते हैं किन्तु प्रथम समय के अध्यवसाय स्थान से दूसरे समय के अध्यवसायस्थान अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार नवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर उत्तर समय के अध्यवसाय स्थान को अनन्त गुण विशुद्ध समझना चाहिए। आठवें गुणस्थान से नवें गुणस्थान में यही विशेषता है कि आठवें गुणस्थान में तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं, परन्तु नवें गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं और कषाय (संक्लेश) की कमी के साथ साथ जीव परिणामों की शुद्धि बढ़ती जाती है। आठवें गुणस्थान से नवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके

अध्यवसायों की भिन्नताएं आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नवें गुणस्थान में बादर (स्थूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है तथा नवें गुणस्थान के सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसी लिए इस गुणस्थान का 'अनिवृत्तिबादरसम्पराय' ऐसा सार्थक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं-एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं वे उपशमक कहलाते हैं। जो चारित्रमोहनीय कर्म का क्षपण (क्षय) करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं।

(१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान- इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खण्डों का ही उदय रहता है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के होते हैं। सञ्ज्वलन लोभ कषाय के सिवाय बाकी कषायों का उपशम या क्षय तो पहले ही हो जाता है। इस लिए दसवें गुणस्थान में जीव सञ्ज्वलन लोभ का उपशम या क्षय करता है। उपशम करने वाला जीव उपशमक तथा क्षय करने वाला जीव क्षपक कहलाता है।

(११) उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान- जिनके कषाय उपशान्त हुए हैं, जिन को राग अर्थात् माया और लोभ का भी बिल्कुल उदय नहीं है और जिन को छद्म (आवरण भूत घाती कर्म) लगे हुए हैं वे जीव उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहलाते हैं और उनके स्वरूप को उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तप्रमाण मानी गई है।

इस गुणस्थान में वर्तमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त

करने में समर्थ नहीं होता क्योंकि जो जीव क्षपक श्रेणी करता है वही आगे के गुणस्थानों में जा सकता है। ग्यारहवें गुणस्थान वाला जीव नियम से उपशम श्रेणी वाला ही होता है, अत एव वह ग्यारहवें गुणस्थान से गिर पड़ता है। ग्यारहवें गुणस्थान का समय पूरा होने से पहले ही जो जीव आयु के क्षय होने से काल कर जाता है वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है। उस समय वह ग्यारहवें से गिर कर चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अनुत्तर विमानवासी देवों में केवल चौथा गुणस्थान होता है। चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उन सब कर्मप्रकृतियों का बन्ध, उदय और उदीरणा एक साथ शुरू कर देता है जिनका बन्ध और उदय आदि चौथे गुणस्थान में सम्भव है।

जिस जीव के आयु शेष रहने पर भी गुणस्थान का समय पूरा हो जाता है वह आरोहक्रम से गिरता है अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ते समय उस जीव ने जिन जिन गुणस्थानों को जिस क्रम से प्राप्त किया था या जिन कर्मप्रकृतियों का जिस क्रम से उपशम करके वह ऊपर चढ़ा था वे सब प्रकृतियाँ उसी क्रम से उदय में आती हैं। इस प्रकार गिरने वाला जीव कोई छठे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें, कोई चौथे और कोई दूसरे में होकर पहले तक आता है।

क्षपक श्रेणी के विना कोई जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशम श्रेणी वाला ही जाता है इस लिए वह अवश्य गिरता है। एक जन्म में दो बार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती। क्षपक श्रेणी तो एक ही बार होती है। जिस ने एक बार उपशम श्रेणी की है वह उसी जन्म में क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुका है वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता यह बात कर्मग्रन्थ के अनुसार लिखी गई है। सिद्धान्त के अनुसार जीव एक

जन्म में एक ही श्रेणी कर सकता है अतएव जिसने एक बार उप शम श्रेणी की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

उपशम श्रेणी के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम करता है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त में एक साथ दर्शन मोह की तीनों प्रकृतियों का उपशम करता है। इसके बाद वह जीव छठे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों बार आता जाता है, फिर आठवें गुणस्थान में होकर नवें गुणस्थान को प्राप्त करता है और नवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम शुरू करता है। सब से पहले वह नपुंसकवेद का उपशम करता है, इसके बाद स्त्री वेद का उपशम करता है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन के क्रोध, मान और माया इन सब प्रकृतियों का उपशम नवें गुणस्थान के अन्त तक करता है। संज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान में उपशान्त करता है।

(१२) क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान—जिस जीव ने मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया है किन्तु शेष छद्म (घाती कर्म) अभी विद्यमान हैं उसे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं और उसके स्वरूप को क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। इसे क्षपक श्रेणी वाले जीव ही प्राप्त करते हैं।

क्षपक श्रेणी का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है— जो जीव क्षपक श्रेणी करने वाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुण स्थान तक किसी भी गुणस्थान में सब से पहले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद

अनन्तानुबन्धी कषाय के अवशिष्ट अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में डाल कर दोनों का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद मिश्रमोहनीय और समकित मोहनीय का क्षय करता है। आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के क्षय का प्रारम्भ करता है। इन आठ प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से पहले ही नवें गुणस्थान को प्रारम्भ कर देता है और उसी समय नीचे लिखी १६ प्रकृतियों का क्षय करता है- (१) निद्रानिद्रा (२) प्रचलाप्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) नरक गति (५) नरकानुपूर्वी (६) तिर्यश्च गति (७) तिर्यश्चानुपूर्वी (८) एकेन्द्रिय जाति नामकर्म (९) द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म (१०) त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म (११) चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म (१२) आतप (१३) उद्योत (१४) स्थावर (१५) सूक्ष्म (१६) साधारण। इनके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के बाकी बचे हुए भाग का क्षय करता है। तदनन्तर क्रम से नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य आदि छः, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान और संज्वलन माया का क्षय करता है और संज्वलन लोभ का क्षय दसवें गुणस्थान में करता है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थान-जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय चार घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है उनको सयोगी केवली कहते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।

योग का अर्थ है आत्मा की प्रवृत्ति या व्यापार। प्रवृत्ति या व्यापार के तीन साधन हैं, इस लिए योग के भी तीन भेद हैं- मनो योग, वचन योग और काय योग। किसी को मन से उत्तर देने में केवली भगवान् को मन का उपयोग करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव भगवान् से शब्द

द्वारा न पूछ कर मन से ही पूछता है उस समय केवली भगवान भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करने वाला मन पर्यय ज्ञानी भगवान् द्वारा मन में सोचे हुए उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप में परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओं को देख कर मालूम कर लेता है।

उपदेश देने के लिए केवली भगवान वचन योग का उपयोग करते हैं। हलन चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान–जो केवली भगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगी केवली कहे जाते हैं। उनके स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान् सयोगी अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिस केवली के आयु कर्म की स्थिति और प्रदेश कम रह जाते हैं तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति और प्रदेश आयु कर्म की अपेक्षा अधिक बच जाते हैं वे समुद्घात करते हैं। समुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र की स्थिति आयु के बराबर कर लेते हैं। जिन केवलियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म स्थिति तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर होते हैं उन्हें समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं है। इस लिए वे समुद्घात नहीं करते।

सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता है।

योगों के निरोध का क्रम इस प्रकार है– पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग तथा बादर वचनयोग को रोकते हैं। इसके बाद सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकते हैं और फिर उसी

सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में केवली भगवान् सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार सब योगों का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी भगवान् अयोगी बन जाते हैं और सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को अर्थात् मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। इसके बाद अयोगी केवली भगवान् समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय का 'शैलेशीकरण' करते हैं। सुमेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध अवस्था को 'शैलेशी' कहते हैं। शैलेशी अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की गुणश्रेणी से और आयुकर्म की यथास्थित श्रेणी से निर्जरा करना 'शैलेशी करण' है। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगी केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राही (जीव को संसार में बाँध कर रखने वाले) कर्मों को सर्वथा क्षय कर देते हैं उस समय उनके आत्मप्रदेश इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे उनके शरीर के ⅔ भाग में समा जाते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय में ऋजु गति से ऊपर की ओर सिद्धि क्षेत्र में चले जाते हैं। सिद्धि क्षेत्र लोक के ऊपर के भाग में वर्तमान है। इसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय की अपेक्षा होती है और लोक के आगे धर्मास्तिकाय नहीं है। कर्ममल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व गति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा लेपों के हट जाने से जल पर चला आता है।

गुणस्थानों का स्वरूप ऊपर बताया जा चुका है। अब उनमें कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता को बताते हैं–

वन्धाधिकार

जीव के साथ नए कर्मों का सम्बन्ध होना बन्ध है। कर्मों की कुल १४८ प्रकृतियाँ हैं। यथा– ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुष्य की ४, नामकर्म की ९३, गोत्र की २, अन्तराय की ५। इन १४८ प्रकृतियों के नाम, स्वरूप व विशेष विस्तार इसके तीसरे भाग के बोल न० ५९० में दिया है। इनमें बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १२० हैं। बन्धन नामकर्म तथा संघातन नामकर्म की ५-५ प्रकृतियाँ शरीर नामकर्म में ही गिन ली है तथा वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श की एक एक प्रकृति गिनी है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को इन में नहीं गिना है। इस प्रकार २८ प्रकृतियाँ घटने से १२० रह जाती हैं। नीचे १२० प्रकृतियों के अनुसार बन्ध आदि बताए जाएंगे।

(१) पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म को छोड़कर बाकी ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसका कारण यह है कि तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व वाले जीव के ही होता है और आहारकद्विक (आहारक शरीर और आहारक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म) का बन्ध अप्रमत्त संयम से ही होता है। मिथ्यादृष्टि जीवों में ये दोनों बातें नहीं होतीं क्योंकि चौथे गुणस्थान से पहले सम्यक्त्व और सातवें गुणस्थान से पहले अप्रमत्तसंयम नहीं होता। उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़ कर शेष प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों कारणों से होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में इन चारों का सद्भाव रहने से वहाँ यथासम्भव ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(२) सास्वादन गुणस्थान में १०१ कर्म प्रकृतियों का बन्ध

होता है। इसमें नीचे लिखी १६ प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं-नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय जाति,द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रिय जाति), स्थावर चतुष्क (स्थावर नामकर्म, सूक्ष्म नामकर्म, अपर्याप्त नामकर्म और साधारण नामकर्म) इस प्रकार ११ हुई। इनके सिवाय (१२) हुडक संस्थान (१३) आतप नामकर्म(१४)सेवार्त संहनन (१५) नपुंसकवेद और (१६) मिथ्यात्व मोहनीय। इन सोलह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है, इस लिए दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियाँ ही बँधती हैं।

(३) तीसरे गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान के अन्त में नीचे लिखी २५ प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद होजाता है- तिर्यञ्चत्रिक (तिर्यञ्चगति,तिर्यञ्चानुपूर्वी और तिर्यञ्चायु), स्त्यानगृद्धित्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि),दुर्भगत्रिक (दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय नामकर्म) बीच के चार संहनन तथा चार संस्थान, नीच गोत्र, उद्योत नाम कर्म, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद, अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क। दूसरे गुणस्थान के बाद इन पचीस प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता इस लिए आगे के गुणस्थानों में केवल ७६ प्रकृतियाँ बचती हैं। उनमें भी तीसरे गुणस्थान में मनुष्यायु और देवायु का बन्ध नहीं होता। इस लिए ७४ प्रकृतियाँ ही बचती हैं।

नरकत्रिक से लेकर मिथ्यात्वमोहनीय पर्यन्त १६ कर्म प्रकृतियाँ अत्यन्त अशुभ हैं। प्रायः नारकी,एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवों के ही होती हैं और मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से ही बँधती हैं।

तिर्यञ्चत्रिक से लेकर अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का बन्ध अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान में ही होता है आगे नहीं,

अत उपरोक्त पचीस प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान के चरम समय तक ही बँध सकती हैं,तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं। तीसरे गुणस्थान म जीव का स्वभाव ऐसा होता है जिससे उस समय आयु का बन्ध नहीं होने पाता। इसी लिए मनुष्यायु तथा देवायु का बन्ध भी तीसरे गुणस्थान में नहीं होता। नरकायु तथा तिर्यञ्चायु तो १६ और २५ प्रकृतियों में आ गई हैं। इस प्रकार कुल ११७ प्रकृतियों में से १६+२५+२=४३ कम करने से तीसरे गुणस्थान में केवल ७४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(४) चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उपरोक्त ७४ तथा तीर्थङ्कर नामकर्म, मनुष्यायु और देवायु।

(५) देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान में ६७ कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है। उपरोक्त ७७ में से वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति,मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु),अप्रत्याख्यानावरण चार कषाय तथा औदारिक शरीर और औदारिक अङ्गोपाङ्ग नामकर्म,ये १० प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध,मान,माया और लोभ का उदय चौथे गुणस्थान क अन्त तक ही रहता है। पाँचवें से लेकर आगे के गुणस्थानों म अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता। कषायबन्ध के लिए यह नियम है कि जिस कषाय का जिन गुणस्थानों में उदय रहता है उन्हीं में उसका बन्ध होता है। इस लिए पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का बन्ध नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में मनुष्य भव के योग्य कर्मप्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता सिर्फ देव भव के योग्य कर्म प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इस लिए मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, वज्रऋषभ नाराच संहनन, औदारिक शरीर और औदारिक अगोपांग इन छ प्रकृतियों का बन्ध भी इस गुणस्थान में नहीं होता क्योंकि ये

प्रकृतियाँ मनुष्य भव में ही काम आती है, इस लिए चार कषाय और मनुष्यगति आदि छः मिला कर १० प्रकृतियाँ कम करने से पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(६) छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय पाँचवें गुणस्थान के अन्त तक ही रहता है। छठे गुणस्थान में इस का उदय नहीं होता और इसी लिए बन्ध भी नहीं होता। पाँचवे गुणस्थान की ६७ प्रकृतियों में से प्रत्याख्यानावरण की चार कम कर देने पर शेष ६३ प्रकृतियाँ छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य रहती हैं।

(७) सातवें गुणस्थान में ५८ या ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ करके उसे उस गुणस्थान में बिना समाप्त किए ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं और फिर सातवें गुणस्थान में ही देवायु के बन्ध को समाप्त करते हैं। दूसरे वे जो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ और समाप्ति दोनों छठे गुणस्थान में कर लेते हैं और फिर सातवें गुणस्थान में आते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में अरति, शोक, अस्थिर नामकर्म, अशुभ नामकर्म, अयश:कीर्ति नामकर्म और असातावेदनीय इन छः कर्मप्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है। इस लिए छठे गुणस्थान की त्रेसठ प्रकृतियों में से छः घटा देने पर ५७ प्रकृतियाँ बचती हैं। दूसरे प्रकार के जीवों के छठे गुणस्थान के अन्त में उपरोक्त छः तथा देवायु इन सात कर्मप्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। इस तरह सात कम करने पर ५६ प्रकृतियाँ शेष बचती हैं। दोनों प्रकार के जीव आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन दोनों प्रकृतियों को बाँध सकते हैं। इन दो के मिलाने पर ५६ या ५८ प्रकृतियाँ

होती हैं। जो जीव देवायुबन्ध को सातवें गुणस्थान में पूरा करते हैं उनके लिए ५६ तथा जो छठे में पूरा कर लेते हैं उनके लिए ५८ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होती हैं।

(८) आठवें गुणस्थान के पहले भाग में ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। जिस जीव के देवायु का बन्ध छठे गुणस्थान में पूरा नहीं होता उसके सातवें गुणस्थान में वह पूरा हो जाता है। इस लिए आठवें गुणस्थान के पहले भाग में शेष ५८ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। दूसरे से लेकर छठे तक पाँच भागों में ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का बन्धविच्छेद पहले भाग में ही हो जाता है, इस लिए दूसरे भाग में ये दो प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। सातवें भाग में २६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि नीचे लिखी तीस प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग से आगे नहीं बँधतीं- (१) देवगति (२) देवानुपूर्वी (३) पञ्चेन्द्रिय जाति (४) शुभविहायोगति (५-१३) त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय) (१४-१७) औदारिक के सिवाय चार शरीर (१८-१९) वैक्रिय और आहारक अङ्गोपाङ्ग (२०) समचतुरस्र संस्थान (२१) निर्माण नामकर्म (२२) तीर्थङ्कर नामकर्म (२३) वर्ण (२४) गन्ध (२५) रस (२६) स्पर्श (२७) अगुरुलघु नामकर्म (२८) उपघात नामकर्म (२९) पराघात नामकर्म (३०) उच्छ्वास नामकर्म। इन प्रकृतियों के कम होने से आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में केवल २६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है।

(९) नवें गुणस्थान के पहले भाग में २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उपरोक्त २६ प्रकृतियों में से हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का बन्धविच्छेद आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में हो जाता है, इस लिए नवें गुणस्थान के पहले भाग में केवल २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। नवें गुणस्थान के दूसरे

भाग से लेकर पाँचवें भाग तक क्रमशः २१, २०, १६ और १८ कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। पुरुषवेद, सञ्ज्वलन के क्रोध, मान, माया इन प्रकृतियों का बन्धविच्छेद नवें गुणस्थान के पाँच भागों में क्रमशः हो जाता है, इस लिए दूसरे भाग में पुरुषवेद का बन्ध नहीं होता। तीसरे भाग में सञ्ज्वलन क्रोध, चौथे में मान तथा पाँचवें में माया का बन्ध नहीं होता। इस प्रकार नवें गुणस्थान के पाँचवें भाग में केवल १८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

(१०) दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। सञ्ज्वलन लोभ का नवें गुणस्थान के अन्त में बन्धविच्छेद हो जाने से दसवें गुणस्थान में बन्ध नहीं होता।

(११-१२-१३) ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान के अन्त में नीचे लिखी सोलह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है-

(१-४) दर्शनावरण की चार (५) उच्चगोत्र (६) यशःकीर्ति नामकर्म (७-११) ज्ञानावरण की पांच (१२-१६) अन्तराय की पांच। इनके बाद केवल सातावेदनीय बचती है। उसका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। ऊपर लिखी १६ प्रकृतियों का बन्ध कषाय से होता है। दसवें गुणस्थान से आगे कषाय न होने से उनका बन्ध नहीं होता।

सातावेदनीय का बन्ध भी इन गुणस्थानों में केवल योग के कारण होता है। कषाय न होने के कारण उसमें स्थिति या अनुभाव (फल देने की शक्ति) का बन्ध नहीं होता, इस लिए सातावेदनीय कर्म के पुद्गल पहले समय में बँधते हैं, दूसरे समय में वेदे जाते हैं और तीसरे समय में उनकी निर्जरा हो जाती है। उनकी स्थिति केवल दो समयों की होती है।

([illegible]) [illegible]दहवें गुणस्थान में किसी प्रकृति का बन्ध नहीं होता

इस लिए इसे अबन्धक गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान में योगों का भी निरोध हो जाने से कर्मबन्ध का कोई कारण नहीं रहता, इस लिए भी बन्ध नहीं होता।

पीछे बताया जा चुका है कि कर्मबन्ध के चार कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इनमें से मिथ्यात्व पहले गुणस्थान में ही होता है। इस लिए मिथ्यात्व से बँधने वाली नरक आदि १६ प्रकृतियाँ आगे के किसी गुणस्थान में नहीं बँधतीं। इसी प्रकार अविरति, कषाय और योगरूप कारण जैसे जैसे दूर होते जाते हैं उनसे बँधने वाली प्रकृतियाँ भी कम होती जाती हैं। चौदहवें गुणस्थान में कोई कारण नहीं बचता और इस लिए किसी भी कर्मप्रकृति का बन्ध नहीं होता केवल शरीर का सम्बन्ध रहता है, उससे छूटते ही जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

आयुबन्ध पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में ही होता है। सातवें गुणस्थान में वही जीव आयु बाँधता है जिसने छठे गुणस्थान में देवायुबन्ध को पूरा नहीं किया है।

उदयाधिकार

विपाक का समय आने पर कर्मफल को भोगना उदय कहलाता है। उदय के योग्य १२२ कर्म प्रकृतियाँ हैं। बन्ध १२० प्रकृतियों का ही होता है। मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का बन्ध नहीं होता। मिथ्यात्वमोहनीय ही परिणाम विशेष से जब अर्द्ध-शुद्ध या शुद्ध हो जाता है तो मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के रूप में उदय में आता है, इस लिए उदय में बन्ध की अपेक्षा दो प्रकृतियाँ अधिक हैं।

(१) पहले गुणस्थान में ११७ कर्मप्रकृतियों का उदय होता है। १२२ में से नीचे लिखी पाँच कम हो जाती हैं— (१) मिश्र मोहनीय (२) सम्यक्त्व मोहनीय (३) आहारक शरीर (४) आहारक

अंगोपांग और (५) तीर्थङ्कर नामकर्म। इन पाँच प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में नहीं होता।

(२) दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म प्रकृतियों का उदय होता है। पहले गुणस्थान की ११७ प्रकृतियों में से नीचे लिखी छः कम हो जाती हैं- (१) सूक्ष्म नामकर्म (२) अपर्याप्त नामकर्म (३) साधारण नामकर्म (४) आतप नामकर्म (५) मिथ्यात्व मोहनीय और (६) नरकानुपूर्वी।

(३) तीसरे गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त १११ में से नीचे लिखी १२ प्रकृतियाँ कम करने से ९९ रह जाती है और उनमें मिश्र मोहनीय मिला देने से कुल १०० प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है। बारह प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं- अनन्तानुबन्धी चार कषाय (५) स्थावर नामकर्म (६-९) एकेन्द्रिय तथा तीन विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) (१०) तिर्यञ्चानुपूर्वी (११) मनुष्यानुपूर्वी और (१२) देवानुपूर्वी।

(४) चौथे गुणस्थान में १०४ प्रकृतियों का उदय होता है। तीसरे गुणस्थान की १०० प्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान में नहीं होता। बाकी ९९ प्रकृतियों में नीचे लिखी पाँच और मिला दी जाती है-(१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) देवानुपूर्वी (३) मनुष्यानुपूर्वी (४) तिर्यञ्चानुपूर्वी और (५) नरकानुपूर्वी।

(५) पाँचवें गुणस्थान में ८७ प्रकृतियों का उदय होता है। ऊपर लिखी १०४ में से नीचे लिखी १७ कर्मप्रकृतियाँ कम हो जाती हैं- (१) देव गति (२) नरक गति (३-६) चार आनुपूर्वी (७) देवायु (८) नरकायु (९) वैक्रिय शरीर (१०) वैक्रिय अंगोपांग (११) दुर्भग नामकर्म (१२) अनादेय नामकर्म (१३) अयशःकीर्ति नामकर्म (१४-१७) अप्रत्याख्यानावरण के चार कषाय। इन १७ प्रकृतियों को घटा देने पर बाकी बची हुई ८७ प्रकृतियों का उदय

पाँचवें गुणस्थान में होता है।

(६) छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियों का उदय होता है। ऊपर लिखी ८७ में से नीचे लिखी आठ घटाने पर ७६ बच जाती हैं। उनमें आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग नामकर्म मिलाने पर ८१ हो जाती हैं। वे आठ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं–(१) तिर्यञ्चगति (२) तिर्यञ्च आयु (३) नीच गोत्र (४) उद्योत नामकर्म और (५–८) प्रत्याख्यानावरण चार कषाय।

(७) सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय होता है। उपरोक्त ८१ में से निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन पाँच प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान के अन्त तक ही रहता है। इस लिए सातवें गुणस्थान में इन पाँच प्रकृतियों के घटाने पर शेष ७६ बच जाती हैं।

(८) आठवें गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय होता है। सम्यक्त्व मोहनीय और अन्त के तीन संहनन इन चार प्रकृतियों का सातवें गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाता है, इस लिए आठवें गुणस्थान में ऊपर बताई गई ७६ प्रकृतियों में से चार कम हो जाती हैं।

(९) नवें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का उदय होता है। ऊपर बताई गई ७२ में से नीचे लिखी छः कम हो जाती हैं–हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा।

(१०) दसवें गुणस्थान में ६० प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त ६६ में से नीचे लिखी छः कम हो जाती हैं–(१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुंसक वेद (४) संज्वलन क्रोध (५) संज्वलन मान (६) संज्वलन माया।

(११) ग्यारहवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त ६० में से संज्वलन लोभ कम हो जाता है।

(१२) बारहवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का उदय होता है। पूर्वोक्त ५६ में से ऋषभनाराच संहनन और नाराच संहनन ये दो प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। ५७ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त अर्थात् अन्तिम समय से पहले के समय तक पाया जाता है। निद्रा और प्रचला इन दो कर्मप्रकृतियों का उदय अन्तिम समय में नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५७ कर्म प्रकृतियों में से निद्रा और प्रचला को छोड़ कर शेष ५५ कर्म प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है।

(१३) तेरहवें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियों का उदय हो सकता है। पूर्वोक्त ५५ में से नीचे लिखी १४ कर्मप्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान तक ही रहता है-ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४, और अन्तराय की ५। ५५ में से १४ घटाने पर ४१ रह जाती हैं। तेरहवें गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म का भी उदय हो सकता है, इस लिए ४२ प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

(१४) चौदहवें गुणस्थान में केवल १२ प्रकृतियों का उदय होता है। नीचे लिखी तीस प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान तक ही रहता है-(१) औदारिक शरीर (२) औदारिक अङ्गोपाङ्ग (३) अस्थिर नामकर्म (४) अशुभ नामकर्म (५) शुभविहायोगति (६) अशुभविहायोगति (७) प्रत्येक नामकर्म (८) स्थिर नामकर्म (९) शुभनामकर्म (१०) समचतुरस्र संस्थान (११) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (१२) सादि संस्थान (१३) वामन संस्थान (१४) कुब्जक संस्थान (१५) हुण्डक संस्थान (१६) अगुरुलघु नामकर्म (१७) उपघात नामकर्म (१८) पराघात नामकर्म (१९) उच्छ्वास नामकर्म (२०) वर्ण (२१) रस (२२) गन्ध (२३) स्पर्श (२४) निर्माण नामकर्म (२५) तैजसशरीर नामकर्म (२६) कार्मणशरीर नामकर्म (२७) वज्रऋषभनाराच संहनन (२८) सुस्वर नामकर्म (२९) दुःस्वर

नामकर्म (२०) सातावेदनीय या असातावेदनीय (इन दोनों में से कोई एक)। इनका उदय चौदहवें गुणस्थान में नहीं होता इस लिए चौदहवें गुणस्थान में केवल १२ प्रकृतियों का उदय होता है। वे बारह प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं– (१) सुभग नामकर्म (२) आदेय नामकर्म (३) यश कीर्ति नामकर्म (४) वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक (५) त्रस नामकर्म (६) बादर नामकर्म (७) पर्याप्त नामकर्म (८) पञ्चेन्द्रिय नामकर्म (९) मनुष्यायु (१०) मनुष्यगति (११) तीर्थङ्कर नामकर्म और (१२) उच्चगोत्र। इनका उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। इन प्रकृतियों से मुक्त होते ही जीव शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

उदीरणाधिकार

विपाक का समय प्राप्त होने से पहले ही कर्मदलिकों को भोगना उदीरणा है अर्थात् कर्मदलिकों को प्रयत्नविशेष से खींच कर नियत समय से पहले ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगना उदीरणा है। कर्मों के शुभाशुभ फलों को भोगना ही उदय तथा उदीरणा है, किन्तु दोनों में इतना भेद है कि उदय में किसी भी प्रकार के प्रयत्न के बिना स्वाभाविक क्रम से कर्मों के फल का भोग होता है और उदीरणा में प्रयत्न करने पर ही कर्मफल का भोग होता है।

पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक उदय और उदीरणा एक समान है। सातवें से लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में उदय की अपेक्षा उदीरणा में नीचे लिखी तीन प्रकृतियाँ कम हैं– (१) सातावेदनीय (२) असातावेदनीय और (३) मनुष्य आयु। उदयाधिकार में बताया जा चुका है कि छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें से (१) निद्रानिद्रा (२) प्रचलाप्रचला (३) स्त्यानगृद्धि (४) आहारक शरीर (५) आहारक अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म। इन पाँच प्रकृतियों का उदयविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्त में

हो जाता है, इसलिए सातवें गुणस्थान में इनका उदय नहीं होता, किन्तु छठे गुणस्थान के अन्त में उदीरणा ८ प्रकृतियों की होती है। ऊपर लिखी पाँच और (१) सातावेदनीय (२) असातावेदनीय तथा (३) मनुष्यायु। इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा आगे भी किसी गुणस्थान में नहीं होती, इस लिए तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में तीन प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं।

चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती क्योंकि उदीरणा होने में योग की अपेक्षा है और चौदहवें गुणस्थान में योग का निरोध हो जाता है।

सत्ताधिकार

बन्ध के समय जो कर्मपुद्गल जिस कर्मस्वरूप में परिणत होते हैं उन कर्मपुद्गलों का उसी कर्म स्वरूप में आत्मा के साथ लगे रहना कर्म की सत्ता कही जाती है। कर्मपुद्गलों का प्रथम स्वरूप को छोड कर दूसरे कर्मस्वरूप में बदल कर आत्मा के साथ लगे रहना भी सत्ता है। कर्मों का उसी स्वरूप में लगे रहना बन्ध-सत्ता है और दूसरे स्वरूप में बदल कर लगे रहना संक्रमणसत्ता है।

सत्ता में १४८ कर्मप्रकृतियाँ मानी जाती हैं। उदयाधिकार में पाँच बन्धन और पाँच संघातन की प्रकृतियाँ अलग नहीं है, उन्हें पाँच शरीरों में ही गिन लिया गया है तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की एक एक प्रकृति को ही गिना है। सत्ताधिकार में पाँचों शरीरों के पाँच बन्धन और पाँच संघातन अलग गिने जाते हैं। वर्ण ५, रस ५, गन्ध २ और स्पर्श ८ होने से वर्ण आदि की कुल २० प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। इनमें बन्धन और संघातन के मिलाने पर ३० हो जाती है। इनमें से समुच्चय रूप से गिनी जाने वाली वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श की ४ प्रकृतियाँ कम कर देने पर २६ बचती है अर्थात् सत्ताधिकार में ५ बन्धन, ५ संघातन और १६

वर्णादि इस प्रकार २६ प्रकृतियाँ बढ़ जाती हैं। उदयाधिकार की १२२ प्रकृतियों में उपरोक्त २६ मिला देने पर कुल १४८ हो जाती हैं।

पहले तथा चौथे से लेकर ग्यारहवें तक नौ गुणस्थानों में सभी अर्थात् १४८ प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता नहीं होती, इस लिए इन दोनों में १४७ प्रकृतियों की ही सत्ता रहती है।

जिस जीव ने पहले नरक की आयु का बन्ध कर लिया है और बाद में सम्यक्त्व प्राप्त करके उसके बल से तीर्थङ्कर नामकर्म को भी बाँध लिया है वह जीव नरक में जाने से पहले मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है। ऐसे जीव की अपेक्षा से ही पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता मानी गई है। दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थङ्कर नामकर्म को नहीं बाँध सकता, क्योंकि उन दोनों गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नहीं होता। इसी प्रकार तीर्थङ्कर नामकर्म को बाँध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर दूसरे या तीसरे गुणस्थान में नहीं जाता, इसी लिए दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म को छोड़ कर शेष १४७ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है।

कर्मों की सत्ता दो प्रकार की है– सम्भवसत्ता और स्वरूप सत्ता। जीव के साथ बँधे हुए कर्मों की वर्तमान सत्ता को स्वरूप सत्ता कहते हैं और जिन कर्मों के वर्तमान अवस्था में बँधे हुए न होने पर भी बँधने की सम्भावना हो उनकी सत्ता को सम्भवसत्ता कहते हैं। ऊपर बताई गई १४७ और १४८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता सम्भवसत्ता की अपेक्षा से है अर्थात् उन प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है। स्वरूपसत्ता की अपेक्षा दो प्रकार का आयुष्य कभी एक साथ नहीं रह सकता किन्तु सम्भवसत्ता की अपेक्षा रह सकता है।

चौथे गुणस्थान से सम्यक्त्व की अपेक्षा जीव के तीन भेद हो

जाते हैं–(१) क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी (२) औपशमिक सम्यक्त्वी और (३) क्षायिक सम्यक्त्वी। इनके फिर दो दो भेद हो जाते हैं– (१) चरम शरीरी और (२) अचरम शरीरी।

क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीवों के चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता है।

पञ्चसंग्रह का सिद्धान्त है कि जो जीव अनन्तानुबन्धी ४ कषायों की विसंयोजना नहीं करता वह उपशम श्रेणी का प्रारम्भ नहीं कर सकता तथा यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि नरक या तिर्यञ्च की आयु बाँध कर जीव उपशम श्रेणी को नहीं प्राप्त कर सकता। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार आठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें तक १४२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क की विसयोजना तथा देवायु को बाँध कर जो जीव उपशम श्रेणी करता है उसके आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें इन चार गुणस्थानों में १४२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। विसयोजना क्षय को ही कहते हैं किन्तु क्षय में नष्ट किए कर्म का फिर सम्भव नहीं होता और विसयोजना में होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व वाले अचरम शरीरी जीव के चौथे से लेकर आठवें गुणस्थान तक १४१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। अनन्तानुबन्धी चार कषाय और सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय तथा मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों का क्षय हो जाने से वे सत्ता में नहीं रहतीं।

औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले चरमशरीरी जीवों के चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है, क्योंकि इनके वर्तमान मनुष्यायु को छोड़ कर शेष देव, नरक और तिर्यञ्च इन तीन आयु कर्म प्रकृतियों की न स्वरूपसत्ता हो सकती है और न सम्भवसत्ता।

क्षायिक सम्यक्त्व वाले चरम शरीरी जीवों के चौथे गुणस्थान से लेकर नवें के प्रथम भाग तक १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और तीन आयु इन दस प्रकृतियों की सत्ता उस जीव के नहीं होती।

जो जीव वर्तमान जन्म में ही क्षपक श्रेणी कर सकते हैं वे क्षपक या चरमशरीरी कहे जाते हैं। उनके मनुष्य आयु ही सत्ता में रहती है दूसरी आयु नहीं। उन्हें भविष्य में भी दूसरी आयु सत्ता में होने की सम्भावना नहीं रहती। इस लिए क्षपक (चरमशरीरी) जीवों को मनुष्य आयु के सिवाय दूसरी आयु की न स्वरूपसत्ता है और न सम्भवसत्ता। इसी अपेक्षा से क्षपक (चरम शरीरी जिन्हें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हुआ है) जीवों के १४५ कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही गई है परन्तु क्षपक जीवों में जो क्षायिक सम्यक्त्व वाले हैं उनके अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है इसी लिए क्षायिक सम्यक्त्व वाले क्षपक जीवों के १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही गई है। जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकते वे अचरम शरीरी कहलाते हैं।

नवें गुणस्थान के नौ भागों में से प्रथम भाग में क्षपक श्रेणी वाले जीव के पूर्वोक्त १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है। पहले भाग के अन्त में नीचे लिखी १६ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है— (१) स्थावर नामकर्म (२) सूक्ष्म नामकर्म (३) तिर्यञ्च गति (४) तिर्यञ्चानुपूर्वी (५) नरकगति (६) नरकानुपूर्वी (७) आतप नामकर्म (८) उद्योत नामकर्म (९) निद्रानिद्रा (१०) प्रचलाप्रचला (११) स्त्यानगृद्धि (१२) एकेन्द्रिय (१३) बेइन्द्रिय (१४) तेइन्द्रिय (१५) चउरिन्द्रिय और (१६) साधारण नामकर्म, इस लिए दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। दूसरे भाग के अन्तिम समय

में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चौकड़ियों का क्षय हो जाता है इस लिए तीसरे भाग में ११४ प्रकृतियों की सत्ता रह जाती है। तीसरे भाग के अन्त में नपुंसकवेद का क्षय हो जाने से चौथे भाग में ११३ रह जाती है। चौथे के अन्त में स्त्रीवेद का क्षय हो जाने से पाँचवें में ११२। पाँचवें भाग के अन्त में हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा इन छः प्रकृतियों का क्षय हो जाता है, इस लिए छठे भाग में १०६। छठे के अन्त में पुरुष वेद का क्षय होने से सातवें भाग में १०५। सातवें के अन्त में सञ्ज्वलन क्रोध का क्षय होने से आठवें भाग में १०४ और आठवें के अन्त में सञ्ज्वलन मान का क्षय हो जाने से नवें भाग में १०३ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। नवें भाग के अन्त में सञ्ज्वलन माया का क्षय हो जाता है।

दसवें गुणस्थान में १०२ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस गुणस्थान के अन्तिम समय में सञ्ज्वलन लोभ का अभाव हो जाता है इस लिए बारहवें गुणस्थान के दो भागों में से अर्थात् द्विचरम समय पर्यन्त (अन्तिम समय से एक समय पहले तक) १०१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता हो सकती है। दूसरे भाग में अर्थात् द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। इस लिए बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में ९९ प्रकृतियाँ सत्ता में रह जाती हैं। ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण और पाँच अन्तराय इन १४ प्रकृतियों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान में ८५ कर्म प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

चौदहवें गुणस्थान में द्विचरम समय तक अर्थात् अन्तिम समय से पहले समय तक ८५ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। द्विचरम समय में नीचे लिखी ७२ कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाता है- (१)

देवगति (२) देवानुपूर्वी (३) शुभविहायोगति (४) अशुभविहायोगति (५) सुरभिगन्ध नामकर्म (६) दुरभिगन्ध नामकर्म (७-१४) आठ स्पर्श (१५-१९) पाँच वर्ण (२०-२४) पाँच रस (२५-२९) पाँच शरीर (३०-३४) पाँच बन्धन (३५-३९) पाँच संघातन (४०) निर्माण नामकर्म (४१-४६) संहनन छः (४७-५२) अस्थिरादि छः (अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयश कीर्ति), (५३-५८) संस्थान छः (५९-६२) अगुरुलघुचतुष्क (६३) अपर्याप्त नामकर्म, (६४) सातावेदनीय या असातावेदनीय, (६५-६७) प्रत्येक, स्थिर और शुभनामकर्म, (६८-७०) तीन अंगोपाङ्ग, (७१) सुस्वर नामकर्म और (७२) नीचगोत्र। द्विचरम समय में ७२ प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर अन्तिम समय में १३ कर्मप्रकृतियाँ रहती हैं। वे इस प्रकार हैं- (१ ३) मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु (४ ६) त्रस, बादर और पर्याप्त-नामकर्म (७) यश कीर्ति नामकर्म (८) आदेय नामकर्म (९) सुभग नामकर्म (१०) तीर्थङ्कर नामकर्म (११) उच्चगोत्र (१२) पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्म और (१३) सातावेदनीय या असाता वेदनीय इन दोनों में से एक।

इन तेरह प्रकृतियों का अभाव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है और आत्मा निष्कर्म होकर मुक्त हो जाता है।

किसी किसी आचार्य का मत है चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में १२ प्रकृतियाँ ही रहती हैं। मनुष्यानुपूर्वी नहीं रहती। दूसरी ७२ प्रकृतियों के साथ स्तिबुकसंक्रम द्वारा उसका भी क्षय हो जाता है। उदय में नहीं आए हुए कर्मदलिकों को उसी जाति तथा बराबर स्थिति वाले उदयवर्ती कर्मदलिकों में बदल कर उन्हीं के साथ भोग लेना स्तिबुकसंक्रम कहा जाता है। ऊपर लिखी बारह प्रकृतियों के सिवाय बाकी सब सत्ता में रही हुई प्रकृतियों को

को जीव चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य (अन्त से पहले के) समय में स्तिबुकसंक्रम द्वारा हटा देता है।　　(कर्मग्रन्थ दूसरा)

गुणस्थानों का स्वरूप तथा कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता ऊपर बताए गए हैं। १४ गुणस्थान के थोकड़े में प्रत्येक गुणस्थान से सम्बन्ध रखने वाले २८ द्वार हैं। उनमें से (१) नामद्वार (२) लक्षण द्वार (३) बन्ध द्वार (४) उदय द्वार (५) उदीरणा द्वार और (६) सत्ता द्वार दूसरे कर्मग्रन्थ के अनुसार ऊपर बताए जा चुके हैं। बाकी द्वार संक्षेप से थोकड़े के अनुसार दिए जाते हैं–

(७) स्थिति द्वार– गुणस्थान विशेष में जीव के रहने की काल-मर्यादा को स्थिति कहते हैं। पहले गुणस्थान में जीवों की स्थिति तीन प्रकार की होती है– अनादि अपर्यवसित (जिसकी आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं है)। अभव्य या कभी मोक्ष न जाने वाले भव्य जीव अनादि काल से पहले गुणस्थान में हैं और अनन्त काल तक रहेंगे, उनकी अपेक्षा अनादि अपर्यवसित पहला भंग है। (२) अनादि सपर्यवसित (जिसकी आदि नहीं है किन्तु अन्त है) जो भव्य जीव अनादि काल से मिथ्यादृष्टि हैं किन्तु भविष्य में मोक्ष प्राप्त करेंगे, उनकी अपेक्षा दूसरी स्थिति है। (३) सादि सपर्यवसित अर्थात् जिसकी आदि भी है और अन्त भी है। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ कर गिरता हुआ फिर पहले गुणस्थान में आ जाता है उसकी अपेक्षा से तीसरा भंग है। तीसरे भंग वाला जीव अधिक से अधिक देशोन अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन तक पहले गुणस्थान में रह सकता है।

दूसरे गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका की है। तीसरे गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। चौथे गुणस्थान की जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम झाझेरी। पाँचवें गुणस्थान की जघन्य अन्तर्मुहूर्त

और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड पूर्व की। छठे गुणस्थान की जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व। सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। बारहवें गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। तेरहवें की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन करोड पूर्व है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति मध्यमरीति से यानी न धीरे न जल्दी पाँच लघु अक्षर अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतनी है।

(८) क्रिया द्वार–क्रियाएं पचीस हैं–काइया, अहिगरणिया, पाउसिया, परितावणिया, पाणाइवाइया, आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, मिच्छादंसणवत्तिया, अपच्चक्खाणिया, दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडुच्चिया, सामन्तोवणिवाइया, नेसत्थिया, साहत्थिया, आणवणिया, वेयारणिया, अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया, पओइया, समुदाणिया, पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिया, ईरियावहिया।

पहले और तीसरे गुणस्थान में ईरियावहिया को छोड कर शेष २४ क्रियाएं पाई जाती हैं। दूसरे और चौथे गुणस्थान में मिच्छादसणवत्तिया (मिथ्यादर्शन प्रत्यय) और ईरियावहिया को छोड कर शेष २३। पाँचवें में अविरति और पहले की दो को छोड कर २२। छठे गुणस्थान में उपरोक्त २२ में से परिग्गहवत्तिया को छोड कर २१ क्रियाएं पाई जाती हैं। सातवें से नवें तक आरम्भिया को छोड कर २० और दसवें गुणस्थान में मायावत्तिया को छोड कर १९ क्रियाएं पाई जाती हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल ईरियावहिया क्रिया पाई जाती है। चौदहवें गुणस्थान में कोई क्रिया नहीं होती।

(९) निर्जरा द्वार–पहले से लेकर दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मों की निर्जरा होती है। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में

मोहनीय के सिवाय सात कर्मों की तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में चार अघाती कर्मों की निर्जरा होती है।

(१०) भाव द्वार– पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक तीन भाव होते हैं। चौथे से दसवें तक पाँचों भाव होते हैं। ग्यारहवें में क्षायिक के सिवाय चार और बारहवें में औपशमिक के सिवा चार भाव होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं। सिद्धों के क्षायिक और पारिणामिक भाव होते हैं।

(११) कारण द्वार– कर्मबन्ध के निमित्त को कारण कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। पहले और तीसरे गुणस्थान में पाँचों कारण होते हैं। दूसरे और चौथे में मिथ्यात्व के सिवाय चार। पाँचवें और छठे में मिथ्यात्व तथा अविरति को छोड़ कर तीन। सातवें से दसवें तक कषाय और योग दो। ग्यारहवें, बारहवें, और तेरहवें में केवल योग होता है। चौदहवें गुणस्थान में कोई कारण नहीं होता, इस लिए वहाँ कर्मबन्ध भी नहीं होता।

(१२) परीषह द्वार– संयम के कठोर मार्ग में विचरते हुए साधु को प्रतिकूल परिस्थिति के कारण जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वे परीषह कहे जाते हैं। परीषह २२ हैं– (१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंशमशक (६) अचेल (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) जल्लमैल (१९) सत्कार पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान और (२२) दर्शन।

चार कर्मों के उदय से ये सभी परीषह होते हैं। ज्ञानावरणीय के उदय से बीसवाँ (प्रज्ञा) और इक्कीसवाँ (अज्ञान)। वेदनीय कर्म के उदय से १ से ५ तक तथा ९, ११, १३, १६, १७, १८ ये ग्यारह

तेरहवें में परमशुक्ल लेश्या। चौदहवें में कोई लेश्या नहीं होती।

(१९) हेतु द्वार–हेतु का अर्थ यहाँ पर है कर्मबन्ध का कारण। इसके ५७ भेद हैं– ५ मिथ्यात्व, १५ योग, १२ अव्रत (छः काय की रक्षा न करना तथा पाँच इन्द्रियों और मन को वश में न रखना) और २५ कषाय (अनन्तानुबन्धी आदि १६ और नोकषाय नौ)।

पहले गुणस्थान में आहारक और आहारक मिश्र को छोड़ कर शेष ५५ हेतु पाए जाते हैं। दूसरे में ५ मिथ्यात्व और ऊपर वाले दो हेतुओं को छोड़ कर ५०। तीसरे में चार अनन्तानुबन्धी, औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र, कार्मण और ऊपर वाले सात, कुल १४ हेतुओं को छोड़ कर ४३। चौथे में औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र और कार्मण इन तीन के बढ़ जाने से ४६। पाँचवें में चार अप्रत्याख्यानावरण, अविरति और कार्मण घट जाने से ४०। छठे में २७ अर्थात् १४ योग (कार्मण छोड़ कर) और १३ कषाय (सञ्ज्वलन की चौकड़ी और ९ नोकषाय)। सातवें में तीन मिश्र योगों को छोड़ कर २४। आठवें में वैक्रिय और आहारक को छोड़ कर २२। नवें में हास्यादि छह को छोड़ कर १६। दसवें में तीन वेद और तीन सञ्ज्वलन कषायों को छोड़ कर १०। ग्यारहवें तथा बारहवें में चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक, ये नौ हेतु पाए जाते हैं। तेरहवें में पाँच–सत्य मनो योग, व्यवहार मनो योग, सत्य भाषा, व्यवहार भाषा और औदारिक। किसी किसी के मत में सात होते हैं। उन के अनुसार औदारिकमिश्र और कार्मण बढ़ जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में कोई हेतु नहीं होता।

(२०) मार्गणा द्वार–मार्गणा का तात्पर्य यहाँ जाने का मार्ग है। पहले गुणस्थान वाला तीसरे, चौथे, पाँचवें और सातवें गुणस्थान में जा सकता है। दूसरे गुणस्थान वाला पहले गुणस्थान में आता है। तीसरे गुणस्थान वाला ऊपर चौथे, पाँचवें और सातवें

में आठ बातें होती है–असयती, अपचक्खाणी, अविरत, असंवृत, अपण्डित, अजागृत, अधर्मी, अधर्मव्यवसायी। पाँचवें में आठ बोल पाये जाते है– संयतासंयती, पचक्खाणापचक्खाणी, विरताविरत, संवृतासंवृत, बालपण्डित, सुप्तजागृत, धर्माधर्मी, धर्माधर्म व्यवसायी। छठे से लेकर चौदहवें तक आठ गुण होते हैं–संयती, पचक्खाणी, विरत, संवृत, पण्डित, जागृत, धार्मिक और धर्मव्यवसायी।

(१६) योग द्वार– पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में आहारक और आहारक मिश्र को छोड कर १३ योग पाये जाते हैं। तीसरे गुणस्थान में औदारिक मिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण इन पाँच योगों को छोड़ कर बाकी दस पाये जाते हैं। पाँचवें में आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण के सिवाय बारह योग पाये जाते हैं। छठे में कार्मण के सिवाय १४ योग पाये जाते हैं। सातवें में तीन मिश्र और कार्मण को छोड़ कर ग्यारह योग पाए जाते हैं। आठवें से लेकर बारहवें तक नौ योग पाए जाते हैं– चार मनोयोग, चार वचन योग और एक औदारिक। तेरहवें में पाँच अथवा सात–सत्यमनोयोग, व्यवहार मनोयोग, सत्य वचन योग, व्यवहार वचन योग और औदारिक। सात मानने पर औदारिक मिश्र और कार्मण बढ़ जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं होता।

(१७) उपयोग द्वार–पहले और तीसरे में छः उपयोग पाए जाते हैं– तीन अज्ञान और पहले तीन दर्शन। दूसरे, चौथे और पाँचवें में छः– तीन ज्ञान और तीन दर्शन। छठे से बारहवें तक सात– चार ज्ञान और तीन दर्शन। तेरहवें और चौदहवें में दो– केवल ज्ञान और केवल दर्शन।

(१८) लेश्या द्वार– पहले से छठे तक छहों लेश्याए पाई जाती है। सातवें में पिछली तीन। आठवें से बारहवें तक शुक्ललेश्या।

परीषह होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से बाईसवाँ (दर्शन) परीषह और चारित्र मोहनीय के उदय से सात परीषह होते हैं– ६, ७, ८, १०, १२, १४ और १६ वाँ। अन्तराय कर्म के उदय से १५वाँ अलाभ परीषह होता है।

पहले गुणस्थान से लेकर नवें गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं, जिनमें से एक समय में जीव अधिक से अधिक बीस वेदता है क्योंकि शीत और उष्ण परीषह एक साथ नहीं हो सकते। इसी प्रकार चर्या (विहार के कारण होने वाला कष्ट) और निषद्या (अधिक बैठे रहने के कारण होने वाला कष्ट) एक साथ नहीं हो सकते।

दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म से होने वाले आठ परीषहों को छोड़ कर बाकी चौदह होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वेदनीय कर्म से होने वाले क्षुधा, तृषा आदि ग्यारह परीषह ही होते हैं।

(१३) आत्मद्वार– पहले और तीसरे गुणस्थान में ज्ञानात्मा और चारित्रात्मा के सिवाय छः आत्माएं पाई जाती हैं। दूसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थान में चारित्रात्मा के सिवाय सात आत्माएं पाई जाती हैं। छठे से लेकर दसवें तक आठों आत्माएं। ग्यारहवें से तेरहवें तक कषाय के सिवाय सात आत्माएं। चौदहवें में कषाय और योग के सिवाय छः आत्माए होती हैं। सिद्ध भगवान् में ज्ञान, दर्शन, द्रव्य और उपयोग रूप चार आत्माएं ही हैं।

(१४) जीव द्वार– पहले गुणस्थान में जीव के चौदह भेद पाए जाते हैं। दूसरे में छः –बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और असञ्ज्ञी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त तथा सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त। तीसरे में एक– सञ्ज्ञी पर्याप्त। चौथे में दो– सञ्ज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त। पाँचवें से लेकर चौदहवें तक एक– सञ्ज्ञी पर्याप्त।

(१५) गुणद्वार– पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक जीवों

में तथा नीचे पहले में जाता है। चौथे गुणस्थान वाला ऊपर पाँचवें या सातवें में तथा नीचे पहले, दूसरे और तीसरे में जाता है। पाँचवें वाला नीचे पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे में तथा ऊपर सातवें में जाता है। छठे गुणस्थान वाला नीचे पाँच गुणस्थानों में तथा ऊपर सातवें में जाता है। सातवें गुणस्थान वाला नीचे छठे में और ऊपर आठवें में जाता है, काल करे तो चौथे में जाता है। आठवें गुणस्थान वाला नीचे सातवें में और ऊपर नवें में जाता है, काल करने पर चौथे में जाता है। दसवें गुणस्थान वाला नीचे नवें में और ऊपर ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान में जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान वाला गिरे तो दसवें में और काल करे तो चौथे में जाता है, ऊपर नहीं जाता। बारहवें गुणस्थान वाला तेरहवें में ही जाता है। तेरहवें वाला चौदहवें में और चौदहवें वाला मोक्ष में ही जाता है।

(२१) ध्यान द्वार-पहले और तीसरे गुणस्थान में आर्त तथा रौद्र दो ध्यान पाए जाते हैं। दूसरे, चौथे तथा पाँचवें में तीन-आर्त्तध्यान, रौद्र ध्यान और धर्म ध्यान। छठे में आर्त ध्यान और धर्मध्यान। सातवें में केवल धर्मध्यान। आठवें से तेरहवें तक शुक्लध्यान। चौदहवें में परम शुक्लध्यान।

(२२) दण्डक द्वार-पहले गुणस्थान में चौवीस ही दण्डक पाए जाते हैं। दूसरे में पाँच स्थावर के पाँच दण्डकों को छोड़ कर १९। तीसरे और चौथे में तीन विकलेन्द्रिय को छोड़ कर सोलह। पाँचवें में मनुष्य और सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ये दो। छठे से लेकर चौदहवें तक मनुष्य का एक ही दण्डक पाया जाता है।

(२३) जीव योनि द्वार-पहले गुणस्थान में ८४ लाख जीव योनियाँ पाई जाती हैं। दूसरे में एकेन्द्रिय की ५२ लाख छोड़ कर शेष ३२ लाख। तीसरे और चौथे में विकलेन्द्रिय की छः लाख घटने पर २६ लाख। पाँचवें में १८ लाख-चौदह लाख मनुष्यों

तेरहवें में परमशुक्ल लेश्या। चौदहवें में कोई लेश्या नहीं होती।

(१९) हेतु द्वार–हेतु का अर्थ यहाँ पर है कर्मबन्ध का कारण। इसके ५७ भेद हैं– ५ मिथ्यात्व, १५ योग, १२ अव्रत (छः काय की रक्षा न करना तथा पाँच इन्द्रियों और मन को वश में न रखना) और २५ कषाय (अनन्तानुबन्धी आदि १६ और नोकषाय नौ)।

पहले गुणस्थान में आहारक और आहारक मिश्र को छोड़ कर शेष ५५ हेतु पाए जाते हैं। दूसरे में ५ मिथ्यात्व और ऊपर वाले दो हेतुओं को छोड़ कर ५०। तीसरे में चार अनन्तानुबन्धी, औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र, कार्मण और ऊपर वाले सात, कुल १४ हेतुओं को छोड़ कर ४३। चौथे में औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र और कार्मण इन तीन के बढ़ जाने से ४६। पाँचवें में चार अप्रत्याख्यानावरण, अविरति और कार्मण घट जाने से ४०। छठे में २७ अर्थात् १४ योग (कार्मण छोड़ कर) और १३ कषाय (संज्वलन की चौकड़ी और ९ नोकषाय)। सातवें में तीन मिश्र योगों को छोड़ कर २४। आठवें में वैक्रिय और आहारक को छोड़ कर २२। नवें में हास्यादि छह को छोड़ कर १६। दसवें में तीन वेद और तीन संज्वलन कषायों को छोड़ कर १०। ग्यारहवें तथा बारहवें में चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक, ये नौ हेतु पाए जाते हैं। तेरहवें में पाँच– सत्य मनो योग, व्यवहार मनो योग, सत्य भाषा, व्यवहार भाषा और औदारिक। ~~किसी किसी के मत~~ में सात होते हैं। उन के अनुसार औदारिकमिश्र और कार्मण बढ़ जाते हैं। चौदहवें गुण स्थान में कोई हेतु नहीं होता।

(२०) मार्गणा द्वार–मार्गणा का तात्पर्य यहाँ जाने का मार्ग है। पहले गुणस्थान वाला तीसरे, चौथे, पाँचवें और सातवें गुण स्थान में जा सकता है। दूसरे गुणस्थान वाला पहले गुणस्थान में आता है। तीसरे गुणस्थान वाला ऊपर चौथे, पाँचवें और सातवें

में तथा नीचे पहले में जाता है। चौथे गुणस्थान वाला ऊपर पाँचवें या सातवें में तथा नीचे पहले, दूसरे और तीसरे में जाता है। पाँचवें वाला नीचे पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे में तथा ऊपर सातवें में जाता है। छठे गुणस्थान वाला नीचे पाँच गुणस्थानों में तथा ऊपर सातवें में जाता है। सातवें गुणस्थान वाला नीचे छठे में और ऊपर आठवें में जाता है, काल करे तो चौथे में जाता है। आठवें गुणस्थान वाला नीचे सातवें में और ऊपर नवें में जाता है, काल करने पर चौथे में जाता है। दसवें गुणस्थान वाला नीचे नवें में और ऊपर ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान में जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान वाला गिरे तो दसवें में और काल करे तो चौथे में जाता है, ऊपर नहीं जाता। बारहवें गुणस्थान वाला तेरहवें में ही जाता है। तेरहवें वाला चौदहवें में और चौदहवें वाला मोक्ष में ही जाता है।

(२१) ध्यान द्वार—पहले और तीसरे गुणस्थान में आर्त्त तथा रौद्र दो ध्यान पाए जाते हैं। दूसरे, चौथे तथा पाँचवें में तीन—आर्त्तध्यान, रौद्र ध्यान और धर्म ध्यान। छठे में आर्तध्यान और धर्मध्यान। सातवें में केवल धर्मध्यान। आठवें से तेरहवें तक शुक्लध्यान। चौदहवें में परम शुक्लध्यान।

(२२) दण्डक द्वार—पहले गुणस्थान में चौबीस ही दण्डक पाए जाते हैं। दूसरे में पाँच स्थावर के पाँच दण्डकों को छोड़ कर १६। तीसरे और चौथे में तीन विकलेन्द्रिय को छोड़ कर सोलह। पाँचवें में मनुष्य और सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ये दो। छठे से लेकर चौदहवें तक मनुष्य का एक ही दण्डक पाया जाता है।

(२३) जीव योनि द्वार—पहले गुणस्थान में ८४ लाख जीव योनियाँ पाई जाती हैं। दूसरे में एकेन्द्रिय की ५२ लाख छोड़ कर शेष ३२ लाख। तीसरे और चौथे में विकलेन्द्रिय की छः लाख घटने पर २६ लाख। पाँचवें में १८ लाख-चौदह लाख मनुष्य

की और चार लाख तिर्यञ्चों की। छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्य की १४ लाख जीवयोनियाँ पाई जाती हैं।

(२४) निमित्त द्वार-पहले चार गुणस्थान दर्शनमोहनीय के निमित्त से होते हैं। पाँचवें से बारहवें तक आठ गुणस्थान यथायोग्य चारित्र मोहनीय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से। तेरहवाँ और चौदहवाँ योग के निमित्त से होते हैं।

(२५) चारित्र द्वार- पहले चार गुणस्थानों में चारित्र नहीं होता। पाँचवें में एकदेश सामायिक चारित्र होता है। छठे और सातवें में तीन चारित्र पाए जाते हैं-सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि। आठवें और नवें में दो-सामायिक और छेदोपस्थापनीय। दसवें में सूक्ष्मसम्पराय। ग्यारहवें से लेकर चौदहवें तक केवल एक यथाख्यात चारित्र होता है।

(२६) समकित द्वार-क्षायिक समकित चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। उपशम सम्यक्त्व चौथे से ग्यारहवें तक। क्षायोपशमिक वेदक सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक। सास्वादन सम्यक्त्व दूसरे गुणस्थान में होता है। पहले और तीसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व नहीं होता।

(२७) अन्तर द्वार-पहले गुणस्थान में तीन भंग बताए गए हैं-(१)अनादि अपर्यवसित (२) अनादि सपर्यवसित (३)सादि सपर्यवसित। इनमें तीसरे भंग का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम झाझेरा है। दूसरे से ग्यारहवें गुणस्थान तक अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन है। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में अन्तर नहीं होता।

किसी गुणस्थान को एक बार छोड़ कर दुबारा उसे प्राप्त करने में जितना समय लगता है उसे अन्तर या व्यवधान काल कहते हैं। पहले गुणस्थान के प्रथम और द्वितीय भंग में अन्तर नहीं होता

क्योंकि उनमें रहा हुआ जीव उन्हें छोड़ता ही नहीं। दूसरे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें तक के जीव कम से कम अन्तर्मुहूर्त में और उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल में एक बार छोड़े हुए गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान को छोड़ कर जीव फिर इन्हें प्राप्त नहीं करता। वह सिद्ध हो जाता है इसी लिए इन गुणस्थानों में अन्तर नहीं होता।

(२८) अल्पबहुत्व द्वार–ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव अन्य सभी गुणस्थान वाले जीवों से अल्प हैं। प्रत्येक गुणस्थान में दो प्रकार के जीव होते हैं–(१) प्रतिपद्यमान–किसी विवक्षित समय में उस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले। (२) पूर्वप्रतिपन्न–विवक्षित समय से पहले जो उस गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान ५४ और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो या तीन आदि होते हैं। बारहवें गुणस्थान वाले उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान १०८ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ तक) पाए जाते हैं, इस लिए ग्यारहवें गुणस्थान वालों से इनकी संख्या संख्यातगुणी कही जाती है। उपशम श्रेणी वाले जीव उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान ५४ और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो, तीन आदि माने गए हैं। क्षपक श्रेणी वाले प्रतिपद्यमान १०८ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व माने गए हैं। उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियों वाले सभी जीव आठवें, नवें और दसवें गुणस्थान में वर्तमान होते हैं, इस लिए इन तीनों गुणस्थान वाले जीव आपस में समान हैं, किन्तु बारहवें गुणस्थान वालों की अपेक्षा विशेषाधिक हैं। चौदहवें गुणस्थान वाले भवस्थ अयोगी बारहवें गुणस्थान वालों के बराबर हैं।

सयोगी केवली अर्थात् तेरहवें गुणस्थान वाले जीव उन से संख्यातगुणे हैं। वे पृथक्त्व करोड़ अर्थात् जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नौ करोड़ होते हैं।

अप्रमत्तसंयत अर्थात् सातवें गुणस्थान वाले उनसे संख्यात गुणे पाए जाते हैं। वे दो हजार करोड़ तक हो सकते हैं।

प्रमत्तसंयत अर्थात् छठे गुणस्थान वाले उनसे संख्यात गुणे हैं। वे नौ हजार करोड़ तक होते हैं। असंख्यात गर्भज तिर्यञ्च भी देश विरति पा लेते हैं, इस लिए पाँचवें गुणस्थान वाले छठे की अपेक्षा असंख्यातगुणे अधिक हैं। दूसरे गुणस्थान वाले देशविरति वालों से असंख्यात गुणे होते हैं, क्योंकि सास्वादन सम्यक्त्व चारों गतियों में होता है। सास्वादन सम्यक्त्व की अपेक्षा मिश्रदृष्टि का कालमान (स्थिति) असंख्यातगुणा है, इस कारण मिश्रदृष्टि अर्थात् तीसरे गुणस्थान वाले दूसरे गुणस्थान वालों की अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं। तीसरे की अपेक्षा चौथे गुणस्थान वाले असंख्यात गुणे हैं। अयोगी केवली दो तरह के होते हैं—भवस्थ (चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव) और अभवस्थ (सिद्ध)। अभवस्थ (सिद्ध) चौथे गुणस्थान वालों से अनन्त गुणे हैं। मिथ्यादृष्टि अर्थात् पहले गुणस्थान वाले सिद्धों से भी अनन्तगुणे हैं।

पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, ~~सातवाँ~~ और तेरहवाँ ये ~~छ~~ पान्च गुणस्थान लोक में सदा पाए जाते हैं। बाकी ~~आठ~~ गुणस्थान कभी नहीं भी पाए जाते। जब ये पाए जाते हैं, तब भी इनमें जीवों की संख्या कभी उत्कृष्ट होती है, कभी मध्यम और कभी जघन्य।

ऊपर वाला अल्पबहुत्व उत्कृष्ट की अपेक्षा है, जघन्य संख्या की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि जघन्य संख्या के समय जीवों का परिमाण विपरीत भी हो जाता है, जैसे— कभी ग्यारहवें गुणस्थान वाले बारहवें से अधिक भी हो जाते हैं। सारांश यह है कि ऊपर बताया हुआ अल्पबहुत्व सब गुणस्थानों में जीवों के उत्कृष्ट संख्या में पाए जाने के समय ही घट सकता है। (कर्मग्रन्थ ४, गाथा ६२-६३)

मर कर परभव में जाते समय जीव के पहला, दूसरा और चौथा

पन्द्रहवाँ बोल संग्रह

८४९ सिद्धों के पन्द्रह भेद

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष में जाने वाले जीव सिद्ध कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते हैं–

(१) तीर्थसिद्ध– जिससे संसार समुद्र तिरा जाय वह तीर्थ कहलाता है अर्थात् जीवाजीवादि पदार्थों की प्ररूपणा करने वाले तीर्थंकरों के वचन और उन वचनों को धारण करने वाला चतुर्विध संघ तथा प्रथम गणधर तीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार के तीर्थ की मौजूदगी में जो सिद्ध होते हैं वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

(२) अतीर्थसिद्ध– तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहले अथवा बीच में तीर्थ का विच्छेद होने पर जो सिद्ध होते हैं वे अतीर्थ-सिद्ध कहलाते हैं। मरुदेवी माता तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहले ही मोक्ष गई थी। भगवान् सुविधिनाथ से लेकर भगवान् शान्तिनाथ तक आठ तीर्थङ्करों के बीच सात अन्तरों में तीर्थ का विच्छेद हो गया था। इस विच्छेद काल में जो जीव मोक्ष गये वे तीर्थ विच्छेद काल में मोक्ष जाने वाले अतीर्थ सिद्ध कहलाते हैं।

नोट– तीर्थ विच्छेद होना एक अच्छेरा है। इस अवसर्पिणी में होने वाले दस अच्छेरों में यह दसवां अच्छेरा है। दस अच्छेरों का वर्णन तीसरे भाग के बोल नं० ६८१ में दिया गया है।

(३) तीर्थङ्करसिद्ध– तीर्थङ्करपद प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले जीव तीर्थङ्कर सिद्ध कहलाते हैं।

(४) अतीर्थङ्कर सिद्ध– सामान्य केवली होकर मोक्ष जाने वाले अतीर्थङ्कर सिद्ध कहलाते हैं।

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध– दूसरे के उपदेश के बिना स्वयमेव

देवों में और उत्कृष्ट पहले देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(४) अखण्डित संयमासयम (अविराधक श्रावक) जघन्य पहले और उत्कृष्ट बारहवें अच्युत देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(५) खण्डित सयमासयम (विराधक श्रावक) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट ज्योतिषी देवों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(६) असञ्ज्ञी (अकाम निर्जरा करने वाले) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट वाणव्यन्तर देवों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(७) बाल तपस्वी जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट ज्योतिषी देवों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(८) कांदर्पिक (कुतूहली साधु) जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट पहले देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(९) चरक, परिव्राजक (त्रिदण्डी) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट पाँचवें ब्रह्मलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(१०) किल्विषिक (व्यवहार से चारित्र को धारण करने वाले किन्तु भाव से ज्ञान तथा ज्ञानियों का अवर्णवाद करने वाले कपटी) जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट छठे देवलोक तक।

(११) देशविरत चारित्र को धारण करने वाले तिर्यञ्च जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट आठवें सहस्रार देवलोक तक।

(१२) आजीवक मतानुयायी (गोशालक के शिष्य) जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट बारहवें अच्युत देवलोक तक।

(१३) आभियोगिक (मन्त्र तन्त्र आदि करने वाले) जघन्य भवनपतियों में और उत्कृष्ट बारहवें देवलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(१४) दर्शनभ्रष्ट स्वलिङ्गी साधु जघन्य भवनपति देवों में और उत्कृष्ट ऊपर के ग्रैवेयकों तक उत्पन्न हो सकते हैं।

(भगवती शतक १ उद्देशा २)

तो वे अकेले विचर सकते हैं अन्यथा गच्छ में रहते हैं। प्रत्येकबुद्ध को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में अवश्य उपस्थित होता है। वह ज्ञान जघन्य ग्यारह अङ्ग का और उत्कृष्ट किञ्चिदून (कुछ कम) दस पूर्व का होता है। दीक्षा लेते समय देवता उन्हें लिङ्ग (वेश) देते हैं अथवा वे लिङ्ग रहित भी होते हैं।

(७) बुद्ध बोधित सिद्ध- आचार्यादि के उपदेश से बोध प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले बुद्ध बोधित सिद्ध कहलाते हैं।

(८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध- स्त्रीलिङ्ग से मोक्ष जाने वाले स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं। यहाँ स्त्रीलिङ्ग शब्द स्त्रीत्व का सूचक है। स्त्रीत्व (स्त्रीपना) तीन प्रकार का बतलाया गया है- (क) वेद (ख) शरीराकृति और (ग) वेश। यहाँ पर शरीराकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है क्योंकि वेद के उदय में तो कोई जीव सिद्ध हो नहीं सकता और वेश अप्रमाण है, अतः यहाँ शरीराकृतिरूप स्त्रीत्व की ही विवक्षा है। नन्दी सूत्र में चूर्णिकार ने भी लिखा है कि स्त्री के आकार में रहते हुए जो मोक्ष गये हैं वे स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(९) पुरुषलिङ्ग- पुरुष की आकृति रहते हुए मोक्ष में जाने वाले पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१०) नपुंसक लिङ्ग सिद्ध- नपुंसक की आकृति में रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुंसक लिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(११) स्वलिङ्ग सिद्ध- साधु के वेश (रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) में रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१२) अन्यलिङ्ग सिद्ध- परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुए वस्त्र आदि द्रव्य लिङ्ग में रह कर मोक्ष जाने वाले अन्यलिङ्ग सिद्ध कहलाते हैं।

(१३) गृहस्थलिङ्ग सिद्ध- गृहस्थ के वेश में मोक्ष जाने वाले गृहस्थलिङ्ग (गृहीलिङ्ग) सिद्ध कहलाते हैं, जैसे मरुदेवी माता।

बोध प्राप्त कर मोक्ष जाने वाले स्वयंबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।

(६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध– जो किसी के उपदेश के बिना ही किसी एक पदार्थ को देख कर दीक्षा धारण करके मोक्ष जाते हैं वे प्रत्येक बुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।

स्वयंबुद्ध और प्रत्येक बुद्ध दोनों प्रायः एक सरीखे होते हैं, सिर्फ थोड़ी सी परस्पर विशेषताएं होती हैं। वे ये हैं– बोधि, उपधि, श्रुत और लिङ्ग (बाह्य वेष)।

(क) बोधिकृत विशेषता– स्वयंबुद्ध को बाहरी निमित्त के बिना ही जातिस्मरण आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वयंबुद्ध दो तरह के होते हैं– तीर्थङ्कर और तीर्थङ्कर व्यतिरिक्त। यहाँ पर तीर्थङ्कर व्यतिरिक्त लिये जाते हैं क्योंकि तीर्थङ्कर स्वयंबुद्ध तीर्थङ्कर सिद्ध में गिन लिये जाते हैं। प्रत्येक बुद्ध को वृषभ (बैल) मेघ आदि बाहरी कारणों को देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है और दीक्षा लेकर वे अकेले ही विचरते हैं।

(ख) उपधिकृत विशेषता– स्वयंबुद्ध वस्त्र पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (उपकरण) वाले होते हैं और प्रत्येक बुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधि वाले होते हैं। वे वस्त्र नहीं रखते किन्तु रजोहरण और मुखवस्त्रिका तो रखते ही हैं।

(ग-घ) श्रुत और लिङ्ग (बाह्य वेश) की विशेषता– स्वयंबुद्ध दो तरह के होते हैं। एक तो वे जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में भी उपस्थित हो जाता है और दूसरे वे जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में उपस्थित नहीं होता। पहले प्रकार के स्वयंबुद्ध गुरु के पास जाकर लिङ्ग (वेश) धारण करते हैं और नियमित रूप से गच्छ में रहते हैं। दूसरे प्रकार के स्वयंबुद्ध गुरु के पास जाकर वेश स्वीकार करते हैं अथवा उनको देवता वेश दे देता है। यदि वे अकेले विचरने में समर्थ हों और अकेले विचरने की इच्छा हो

और प्रवृत्ति करना ही सच्चा विज्ञान है।

(११) सम्यक्त्व– सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवाजीवादि पदार्थों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बिना जीव को मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती।

(१२) शील सम्प्राप्ति– बहुत से जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके भी चारित्र प्राप्त नहीं करते। चारित्र प्राप्ति के बिना जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। विज्ञान, सम्यक्त्व और शील सम्प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मोक्ष के प्रधान अंग हैं। श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि–

'सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'

अर्थात्– सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग हैं। इन तीनों की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

(१३) क्षायिक भाव– कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होने वाला परिणाम क्षायिक भाव कहलाता है। बहुत से जीव चारित्र प्राप्त करके भी क्षायिक भाव प्राप्त नहीं करते। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं–(१) केवलज्ञान (२) केवल दर्शन (३) दान लब्धि (४) लाभ लब्धि (५) भोग लब्धि (६) उपभोग लब्धि (७) वीर्य लब्धि (८) सम्यक्त्व (९) चारित्र। चार सर्वघाती कर्मों के क्षय होने पर ये नौ भाव प्रकट होते हैं। ये नौ सादि अनन्त है।

(१४) केवलज्ञान– क्षायिक भाव की प्राप्ति के पश्चात् घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञान हो जाने पर जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है।

(१५) मोक्ष–आयुष्य पूर्ण होने पर अव्याबाध मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जाती है।

उपरोक्त पन्द्रह मोक्ष के अङ्ग (उपाय) हैं। इन में से बहुत से अंग इस जीव को प्राप्त हो गये हैं। इस लिये अब शील सम्प्राप्ति

नीच कुल में उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ उन्हें धर्मक्रिया करने की यथासाध्य सामग्री प्राप्त नहीं होती। इस लिये आर्य देश के पश्चात् उत्तम कुल का मिलना बड़ा मुश्किल है।

(६) उत्तम जाति पितृपक्ष कुल और मातृपक्ष जाति कहलाता है। विशुद्ध एवं उत्तम जाति का मिलना भी बहुत कठिन है।

(७) रूपसमृद्धि– आँख, कान आदि पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता रूपसमृद्धि कहलाती है। सारी सामग्री मिल जाने पर भी यदि पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता न हो अर्थात् कोई इन्द्रिय हीन हो तो धर्म का यथावत् आराधन नहीं हो सकता। श्रोत्रेन्द्रिय में किसी प्रकार की हीनता होने पर शास्त्र श्रवण का लाभ नहीं लिया जा सकता। चक्षुरिन्द्रिय में हीनता होने पर जीवों के दृष्टिगोचर न होने से उनकी रक्षा नहीं हो सकती। शरीर के हाथ पैर आदि अवयव पूर्ण न होने से तथा शरीर के पूर्ण स्वस्थ न होने से भी धर्म का सम्यक् आराधन नहीं हो सकता। इस लिए पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता का प्राप्त होना भी बहुत कठिन है।

(८) बल (पुरुषार्थ)– उपरोक्त सारी सामग्री प्राप्त हो जाने पर भी यदि शरीर में बल न हो तो त्याग और तप कुछ भी नहीं हो सकता। अतः शरीर में सामर्थ्य का होना भी परमावश्यक है।

(९) जीवित– बहुत से प्राणी जन्म लेते ही मर जाते हैं या अल्प वय में ही मर जाते हैं। लम्बी आयुष्य मिले बिना प्राणी धर्म क्रिया नहीं कर सकता। अत जीवित अर्थात् दीर्घ आयु का मिलना भी मोक्ष का अंग है।

(१०) विज्ञान– लम्बी आयुष्य प्राप्त करके भी बहुत से जीव विवेकविकल होते हैं। उन्हें सद् असद् एवं हिताहित का ज्ञान नहीं होता इसी लिये जीवादि नव तत्त्व के ज्ञान के प्रति उनकी रुचि नहीं होती। नव तत्त्वों का यथावत् ज्ञान कर आत्महित की

दर्शन, चारित्र की शिक्षा देकर उनका पालन पोषण करने वाला हो।

(११) गम्भीर– रोष अर्थात् क्रोध और तोष अर्थात् प्रसन्न अवस्था में भी जिसके दिल की बात को कोई न समझ सके।

(१२) अविषादी– किसी भी प्रकार का उपसर्ग होने पर जो दीनता न दिखावे अर्थात् न घबरावे।

(१३) उपशमलब्ध्यादियुक्त– उपशम लब्धि आदि लब्धियों को धारण करने वाला हो। जिस लब्धि अर्थात् शक्ति से दूसरे को शान्त कर दिया जाय उसे उपशम लब्धि कहते हैं।

(१४) सूत्रार्थभाषक– आगमों के अर्थ को ठीक ठीक बताने वाला हो।

(१५) स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपद– अपने गुरु से जिसे गुरु बनने की अनुमति मिल गई हो।

इन पन्द्रह में से जिस गुरु में जितने गुण कम हों वह उनकी अपेक्षा मध्यम या जघन्य गुरु कहा जाता है।

(धर्मसंग्रह अधिकार ३ श्लोक ८०-८४)

८५२– विनीत के पन्द्रह लक्षण

गुरु आदि बड़े पुरुषों की सेवा शुश्रूषा करने वाला विनीत कहलाता है। विनीत के पन्द्रह लक्षण हैं–

(१) विनीत शिष्य नीचवृत्ति (नम्र) होता है अर्थात् विनीत शिष्य गुरु आदि के सामने नम्र कर रहता है, नीचे आसन पर बैठता है, हाथ जोड़ता है और चरणों में धोक देता है।

(२) प्रारम्भ किए हुए काम को नहीं छोड़ता, चञ्चलता नहीं करता, जल्दी जल्दी नहीं चलता किन्तु विनयपूर्वक धीरे धीरे चलता है। कई लोग एक जगह बैठे हुए भी हाथ पैर आदि शरीर के अङ्गों को हिलाया करते हैं किन्तु विनीत शिष्य ऐसा नहीं करता। असत्य, कठोर और अविचारित वचन नहीं बोलता, एक काम

(चारित्र प्राप्ति) के लिये प्रयत्न करना चाहिये। चारित्र चिन्तामणि के तुल्य है। इसकी प्राप्ति के बाद दूसरी बातें शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं। अतः प्रमाद रहित होकर सदा काल चारित्र प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये। (पञ्च वस्तुक, गाथा १६६-१८१)

८५१– दीक्षा देने वाले गुरु के पन्द्रह गुण

गृहस्थावास छोड़ कर पाँच महाव्रत रूप मुनि व्रत अंगीकार करने को दीक्षा कहते हैं। नीचे लिखे पन्द्रह गुणों से युक्त साधु परिव्राजक पद अर्थात् दीक्षा देने वाले गुरु के पद के लिये योग्य होता है–

(१) विधिप्रपन्न प्रव्रज्य– दीक्षा देने वाला गुरु ऐसा होना चाहिए जिसने स्वयं विधि पूर्वक दीक्षा ली हो।

(२) आसेवित गुरुक्रम–जिसने गुरु की चिर काल तक सेवा की हो अर्थात् जो गुरु के समीप रहा हो।

(३) अखण्डित व्रत– दीक्षा अंगीकार करने के दिन से लेकर जिसने कभी चारित्र की विराधना न की हो।

(४) विधिपठितागम– सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप आगम को जिसने गुरु के पास रह कर विधिपूर्वक पढ़ा हो।

(५) तत्त्ववित्– शास्त्रों के अध्ययन से निर्मल ज्ञान वाला होने से जो जीवाजीवादि तत्त्वों को अच्छी तरह जानता हो।

(६) उपशान्त–मन, वचन और काया के विकार से रहित हो।

(७) वात्सल्ययुक्त–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप संघ में वत्सलता अर्थात् प्रेम रखने वाला हो।

(८) सर्वसत्त्वहितान्वेषी–संसार के सभी प्राणियों का हित चाहने वाला और उसके लिए प्रयत्न करने वाला हो।

(९) आदेय– जिसकी बात दूसरे लोग मानते हों।

(१०) अनुवर्तक– विचित्र स्वभाव वाले प्राणियों को ज्ञान,

कार्य को नहीं छोड़ता।

(१४) विनीत शिष्य ज्ञानवान् होता है। किसी समय बुरे विचारों के आजाने पर भी वह कुकार्य में प्रवृत्ति नहीं करता।

(१५) बिना कारण गुरु के निकट या दूसरी जगह इधर उधर नहीं घूमता फिरता।

उपरोक्त गुणों वाला पुरुष विनीत कहलाता है।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गाथा १०-१३)

८५३–पूज्यता को बतलाने वाली पन्द्रह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र के विनय समाधि नामक नवें अध्ययन के तीसरे उद्देशे में पूज्यता को बतलाने वाली पन्द्रह गाथाएं आई हैं। उन गाथाओं में बतलाया गया है कि किन किन गुणों के धारण करने से साधु पूज्य (पूजनीय) बन जाता है। उन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है–

(१) जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की पूजा करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य को आचार्य की पूजा यानी सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये क्योंकि जो आचार्य की दृष्टि एवं इंगिताकार आदि को जान कर उनके भावानुकूल चलता है वह पूजनीय होता है।

(२) जो आचारप्राप्ति के लिये विनय करता है, जो भक्ति-पूर्वक गुरुवचनों को सुन कर स्वीकार करता है तथा गुरु के कथनानुसार शीघ्र ही कार्य सम्पन्न कर देता है, जो कभी भी गुरु महाराज की आशातना नहीं करता वह शिष्य संसार में पूज्य होता है।

(३) अपने से गुणों में श्रेष्ठ एवं लघुवयस्क होने पर भी दीक्षा में बड़े मुनियों की विनय भक्ति करने वाला, विनय की शिक्षा से सदा नम्र एवं प्रसन्नमुख रहने वाला, मधुर और सत्य बोलने वाला, आचार्य को वन्दना नमस्कार करने वाला एवं उनके वचनों को कार्यरूप से स्वीकार करने वाला शिष्य पूजनीय होता है।

को पूरा किए बिना दूसरा काम शुरू नहीं करता।

(३) अमायी (सरल) होता है अर्थात् गुरु आदि से छल, कपट नहीं करता।

(४) अकुतूहली अर्थात् क्रीडा से सदा दूर रहता है। खेल, तमाशे आदि देखने की लालसा नहीं करता।

(५) विनीत शिष्य अपनी छोटी सी भूल को भी दूर करने की कोशिश करता है। वह किसी का अपमान नहीं करता।

(६) वह क्रोध नहीं करता तथा क्रोधोत्पत्ति के कारणों से भी सदा दूर रहता है।

(७) मित्र का प्रत्युपकार करता है अर्थात् अपने साथ किए हुए उपकार का बदला चुकाता है। वह कभी कृतघ्न नहीं बनता।

(८) विद्या पढ़ कर अभिमान नहीं करता किन्तु जैसे फलों के आने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है उसी प्रकार विद्या रूपी फल को प्राप्त कर वह नम्र बन जाता है।

(९) किसी समय आचार्यादि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना (गल्ती) हो जाने पर उनका तिरस्कार तथा अपमान नहीं करता अथवा वह पाप की उपेक्षा नहीं करता।

(१०) बड़े से बड़ा अपराध होने पर भी कृतज्ञता के कारण मित्रों पर क्रोध नहीं करता।

(११) अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नहीं करता अर्थात् जिसके साथ एक बार मित्रता कर ली है, यद्यपि वह इस समय सैकड़ों अपकार (बुराई) भी कर रहा हो, तथापि उसके पहले के उपकार (भलाई) का स्मरण कर उसके दोष प्रकट नहीं करता अपितु उसके लिए भी कल्याणकारी वचन ही कहता है।

(१२) कलह और डमर (लड़ाई) से सदा दूर रहता है।

(१३) कुलीनपने को नहीं छोड़ता अर्थात् अपने को सौंपे हुए

और परपीड़ाकारी, निश्चयकारी एवं अप्रियकारी वचन भी नहीं बोलता वह साधु पूजनीय हो जाता है।

(१०) जो साधु किसी प्रकार का लोभ लालच नहीं करता, मंत्र तंत्रादि ऐन्द्रजालिक झगड़ों में नहीं पड़ता, माया के फन्दे में नहीं फसता, किसी की चुगली नहीं करता, संकट से घबरा कर दीनता धारण नहीं करता, दूसरों से अपनी स्तुति नहीं करवाता और न अपने मुंह से अपनी स्तुति करता है तथा खेल, तमाशे आदि कलाओं में कौतुक नहीं रखता है वह साधु पूजनीय हो जाता है।

(११) हे शिष्य! गुणों से साधु और अगुणों से असाधु होता है अतएव तुझे साधु गुणों को तो ग्रहण करना चाहिये और अगुणों को सर्वथा छोड़ देना चाहिये क्योंकि अपनी आत्मा को अपनी आत्मा से ही समझाने वाला तथा राग द्वेष में समभाव रखने वाला गुणी साधु ही पूजनीय होता है।

(१२) जो साधु बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, दीक्षित और गृहस्थ आदि की हीलना (निन्दा), खिंसना (बारम्बार निन्दा) नहीं करता तथा क्रोधादि कषायों से दूर रहता है वह पूजनीय हो जाता है।

(१३) जो शिष्य आचार्य को विनय भक्ति आदि से सम्मानित करते हैं वे स्वयं भी आचार्य से विद्यादान द्वारा सम्मानित होते हैं। जिस प्रकार माता पिता अपनी कन्या को सुशिक्षित कर योग्य वर के साथ पाणिग्रहण द्वारा श्रेष्ठ स्थान में पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार आचार्य भी अपने विनीत शिष्यों को सूत्रार्थ का ज्ञाता बना कर आचार्यपद जैसे ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी साधु ऐसे सम्मान योग्य आचार्यों का सम्मान करता है वह संसार में पूज्य हो जाता है।

(१४) जो मुनि पूर्ण बुद्धिमान्, पाँच महाव्रतों का पालक, तीन गुप्तियों का धारक और चारों कषायों पर विजय प्राप्त करने

(४) सयम यात्रा के निर्वाहार्थ जो सदा विशुद्ध, भिक्षा लब्ध एव अज्ञात कुलों से थोडा थोडा ग्रहण किया हुआ आहार पानी भोगता है और जो आहार के मिलने तथा न मिलने पर स्तुति और निन्दा नहीं करता वह साधु ससार में पूजनीय होता है।

(५) सस्तारक, शय्या, आसन, भोजन और पानी आदि के अधिक लाभ हो जाने पर भी जो अल्प इच्छा और अमूर्च्छा भाव रखता है और सदा काल सन्तोषभाव में रत रहता है, तथा अपनी आत्मा को सभी प्रकार से सन्तुष्ट रखता है वह साधु ससार म पूजनीय होता है।

(६) धन प्राप्ति आदि की अभिलाषा से मनुष्य लोहमय तीक्ष्ण बाणों को सहन करने में समर्थ होता है परन्तु जो साधु बिना किसी लोभ लालच के कर्णकटु वचन रूपी कण्टकों को सहन करता है वह नि सन्देह पूजनीय हो जाता है।

(७) शरीर में चुभे हुए लोह कण्टक तो मर्यादित समय तक ही दु ख पहुँचाने वाले होते है और फिर वे सुयोग्य वैद्य द्वारा सुख पूर्वक निकाले जा सकते हैं किन्तु वचन रूपी कण्टक अतीव दुरुद्धर है अर्थात् हृदय में चुभ जाने के बाद वे बडी कठिनता से निकलते हैं। कठोर वचन रूपी कण्टक परम्परया वैर भाव को बढाने वाले एव महा भय को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

(८) समूह रूप से सन्मुख आते हुए कटुवचन प्रहार श्रोत्र मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होते ही दौर्मनस्य भाव उत्पन्न कर देते है अर्थात् कडु वचनों को सुनते ही हृदय में दुष्ट भावना उत्पन्न हो जाती है परन्तु जो सयम मार्ग में शूरवीर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला पुरुष इन कटु वचनों के प्रहार को शान्ति से समभाव पूर्वक सहन कर लेता है वह ससार में पूजनीय हो जाता है।

(९) जो मुनि पीठ पीछे या सामने किसी की निन्दा नहीं करता

इस तरुण वय में यह कठोर व्रत (मुनिव्रत) धारण किया है ? इन बातों का उत्तर मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ।

राजा के प्रश्न को सुन कर मुनि कहने लगे कि हे राजन् ! मैं अनाथ हूँ, मेरा रक्षक कोई नहीं है और न मेरा कोई कृपालु मित्र ही है। इसी लिए मैंने मुनिव्रत धारण कर लिया है।

योगीश्वर का उत्तर सुन कर मगध देश के अधिपति राजा श्रेणिक को हँसी आ गई। वह योगीश्वर से कहने लगा कि क्या आप जैसे प्रभावशाली तथा समृद्धिशाली पुरुष को अभी तक कोई स्वामी नहीं मिल सका है ? हे योगीश्वर ! यदि सचमुच आपका कोई सहायक नहीं है तो मैं सहायक होने को तैयार हूँ। मनुष्यभव (जन्म) अत्यन्त दुर्लभ है इस लिए आप मित्र तथा स्वजनों से युक्त होकर सुखपूर्वक हमारे पास रहो और यथेच्छ भोगों को भोगो।

योगीश्वर कहने लगे कि हे मगधेश्वर श्रेणिक ! तू स्वयं ही अनाथ है। जो स्वयं अनाथ है वह दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है ? मुनि के वचन सुन कर राजा को अति विस्मय एवं आश्चर्य हुआ क्योंकि राजा के लिए ये वचन अश्रुतपूर्व थे। इससे पहले राजा ने ऐसे वचन कभी किसी से नहीं सुने थे। अतः उसे व्याकुलता और संशय दोनों ही हुए। राजा को यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह योगी मेरी शक्ति, सामर्थ्य तथा सम्पत्ति को नहीं जानता है। इसी लिए ऐसा कहता है। राजा अपना परिचय देता हुआ योगीश्वर से कहने लगा कि मैं अनेक हाथी, घोड़ों, करोड़ों आदमियों, शहरों एवं देशों (अगदेश और मगध देश) का स्वामी हूँ। सुन्दर अन्तःपुर में मनुष्य सम्बन्धी सर्वोत्तम भोग भोगता हूँ। मेरी सत्ता (आज्ञा) और ऐश्वर्य अनुपम हैं। इतनी विपुल सम्पत्ति होने पर भी मैं अनाथ कैसे हूँ ? हे मुनीश्वर ! कहीं आपका कथन असत्य तो नहीं है ? मुनि कहने लगे कि राजन् ! तू अनाथ और

वाला होता है और गुणों के सागर गुरुजनों के वचनों को विनय पूर्वक सुन कर तदनुसार आचरण करने वाला होता है वह मुनि संसार में पूजनीय हो जाता है।

(१५) जैनागम के तत्त्वों को पूर्णरूप से जानने वाला, अतिथि साधुओं की दत्तचित्त से सेवा भक्ति करने वाला साधु अपने गुरु महाराज की निरन्तर सेवा भक्ति करके पूर्वकृत कर्मों को क्षय कर देता है और अन्त में दिव्य तेजोमयी, अनुपम सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है। (दशवैकालिक अध्ययन ६ उद्देशा ३)

८५४—अनाथता की पन्द्रह गाथाएँ

उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन का नाम महानिर्ग्रन्थीय है। इसमें अनाथी मुनि का वर्णन है।

एक समय मगध देश का स्वामी राजा श्रेणिक सैर करने के लिए जंगल की ओर निकला। सैर करता हुआ राजा मंडितकुक्षि नामक उद्यान में आ पहुँचा। वहाँ एक वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाए हुए एक ध्यानस्थ मुनि को देखा। मुनि की प्रसन्न मुखमुद्रा, कान्ति मय देदीप्यमान विशाल भाल और सुन्दर रूप को देख कर राजा श्रेणिक विस्मित एवं आश्चर्यचकित हो गया। वह विचार करने लगा कि अहा! कैसी इनकी कान्ति है? कैसा इनका अनुपम रूप है? अहा! इस योगीश्वर की कैसी अपूर्व सौम्यता, क्षमा, निर्लोभता तथा भोगों से निवृत्ति है! उस योगीश्वर के दोनों चरणों को नमस्कार करके प्रदक्षिणा देकर न अति दूर और न अति पास इस तरह खड़ा होकर, दोनों हाथ जोड़ कर राजा श्रेणिक विनय पूर्वक इस प्रकार पूछने लगा—

हे आर्य! इस तरुणावस्था में भोग विलास के समय आपने दीक्षा क्यों ली है? आपको ऐसी क्या प्रेरणा मिली जिससे आपने

इस प्रकार चारों तरफ से असहायता और अनाथता का अनुभव होने से मैंने सोचा कि इस अनन्त संसार में ऐसी वेदनाएं सहन करनी पड़ें यह बात बहुत असह्य है इस लिए अब की बार यदि मैं इस दारुण वेदना से छूट जाऊँ तो क्षांत (क्षमाशील), दान्त तथा निरारम्भी होकर तत्क्षण ही संयम धारण करूँगा। हे राजन्! रात्रि को ऐसा निश्चय करके मैं सो गया। ज्यों ज्यों रात्रि व्यतीत होती गई त्यों त्यों वह मेरी दारुण वेदना भी क्षीण होती गई। प्रातः काल तो मैं बिलकुल नीरोग हो गया। अपने माता पिता से आज्ञा लेकर क्षान्त, दान्त और निरारम्भी होकर संयमी (साधु) बन गया। संयम धारण करने के बाद मैं अपने आपका तथा समस्त त्रस और स्थावर जीवों का नाथ (रक्षक) हो गया।

हे राजन्! यह आत्मा ही आत्मा के लिये वैतरणी नदी तथा कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और यही कामधेनु तथा नन्दन वन के समान सुखदायी भी है। यह आत्मा ही सुख दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है। यदि सुमार्ग पर चले तो यह आत्मा ही अपना सब से बड़ा मित्र है और यदि कुमार्ग पर चले तो आत्मा ही अपना सब से बड़ा शत्रु है।

इस प्रकार अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को अपना पूर्व वृत्तान्त सुना कर यह बतलाया कि मुझे किस प्रकार वेदना सहन करनी पड़ी और किस प्रकार मुझे अनाथता का अनुभव हुआ। छः काय जीवों के रक्षक महाव्रतधारी मुनिराज ही सच्चे सनाथ (रक्षक) हैं किन्तु मुनिवृत्ति धारण करके जो उसका सम्यक् प्रकार से पालन नहीं कर सकते वे भी अनाथ ही हैं। यह दूसरे प्रकार की अनाथता है। इसका वर्णन इस अध्ययन की अड़तीसवीं गाथा से लेकर तरेपनवीं गाथा तक किया गया है। अतः उन पन्द्रह गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे दिया जाता है—

सनाथ के परमार्थ एवं असली रहस्य को न तो जान ही सका है और न समझ ही सका है। इसीसे तुझे सन्देह हो रहा है। मुझे अनाथता का ज्ञान कहाँ और किस प्रकार हुआ और मैंने दीक्षा क्यों ली, हे राजन! इस सर्व वृत्तान्त को तू ध्यान पूर्वक सुन–

प्राचीन नगरों में सर्वोत्तम कोशांबी नामकी एक नगरी थी। वहाँ प्रभूतधनसञ्चय नाम के मेरे पिता रहते थे। एक समय तरुण अवस्था में मुझे आँख की अतुल पीड़ा हुई और उस पीड़ा के कारण मेरे सारे शरीर में दाहज्वर हो गया। जैसे कुपित हुआ शत्रु मर्मस्थानों पर अति तीक्ष्ण शस्त्रों द्वारा प्रहार कर घोर पीड़ा पहुँचाता है वैसी ही तीव्र मेरी आँख की पीड़ा थी। वह दाहज्वर की दारुण पीड़ा इन्द्र के वज्र की तरह मेरी कमर, मस्तक तथा हृदय को पीड़ित करती थी। उस समय वैद्यक शास्त्र में अति प्रवीण, जड़ी बूटी तथा मंत्र तंत्र आदि विद्या में पारंगत, शास्त्र विचक्षण तथा औषधि करने में अति दक्ष अनेक वैद्याचार्य मेरे इलाज के लिये आये। उन्होंने अनेक प्रकार से मेरी चिकित्सा की किन्तु मेरी पीड़ा को शान्त करने में वे समर्थ न हुए। मेरे पिता मेरे लिए सब सम्पत्ति लगा देने को तय्यार थे किन्तु उस दुःख से छुड़ाने में तो वे भी असमर्थ ही रहे। मेरी माता भी मेरी पीड़ा को देख कर दुखित एवं अतिव्याकुल हो जाती थी किन्तु दुःख दूर करने में वह भी असमर्थ थी। मेरे सगे छोटे और बड़े भाई तथा सगी बहनें भी मुझे उस दुःख से न बचा सकीं। मुझ पर अत्यन्त स्नेह रखने वाली पति परायणा मेरी पत्नी ने सब शृङ्गारों का त्याग कर दिया था। रात दिन वह मेरी सेवा में लगी रहती, एक क्षण के लिये भी वह मेरे से दूर न होती थी किन्तु अपने आँसुओं से मेरे हृदय को सिंचन करने के सिवाय वह भी कुछ न कर सकी। मेरे सज्जन स्नेही और कुटुम्बी जन भी मुझे उस दुःख से न छुड़ा सके यही मेरी अनाथता थी।

निर्मूल्य हो जाता है अर्थात् गुणवानों में उसका आदर नहीं होता।

(६) जो रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि मुनि के बाह्य चिन्ह मात्र रखता है और केवल आजीविका के लिए ही वेशधारी साधु बनता है ऐसा पुरुष त्यागी नहीं है और त्यागी न होते हुए भी अपने को झूठमूठ ही साधु कहलवाता है। ऐसे वेशधारी ढोंगी साधु को बहुत काल तक नरक और तिर्यञ्च योनि के अन्दर असह्य दुःख भोगने पड़ते हैं।

(७) जैसे– तालपुट विष (ऐसा दारुण विष जो तत्काल प्राणों का नाश करता है) खाने से, उल्टी रीति से शस्त्र ग्रहण करने से तथा अविधिपूर्वक मंत्र जाप करने से स्वयं धारण करने वाले का ही नाश हो जाता है वैसे ही चारित्र धर्म को अंगीकार करके जो साधु विषय वासनाओं की आसक्ति में फंस कर इन्द्रिय लोलुप हो जाता है वह अपने आप का पतन कर डालता है।

(८) सामुद्रिक शास्त्र, स्वप्नविद्या, ज्योतिष तथा विविध कौतूहल (जादूगरी) आदि विद्याओं को सीख कर उनके द्वारा आजीविका चलाने वाले कुसाधु को अन्त समय में ये कुविद्याएँ शरणभूत नहीं होतीं।

विद्या वही है जिससे आत्मा का विकास हो। जिससे आत्मा का पतन हो वह विद्या, विद्या नहीं किन्तु कुविद्या है।

(९) वह वेशधारी साधु अपने अज्ञान रूपी अन्धकार से सदा दुखी होता है। चारित्रधर्म का यथावत् पालन न कर सकने के कारण वह इस भव में अपमानित होता है और परलोक में नरक आदि के असह्य दुःख भोगता है।

(१०) जो साधु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन कर अपने निमित्त बनाई गई, मोल ली गई अथवा केवल एक ही घर से प्राप्त सदोष भिक्षा ग्रहण किया करता है वह कुसाधु अपने पापों के कारण

(१) हे राजन्! बहुत से पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार तो कर लेते हैं किन्तु परीषह और उपसर्गों के आने पर कायर बन जाते हैं और साधु धर्म का सम्यक् पालन नहीं कर सकते। यह उनकी अनाथता है।

(२) जो कोई पहले महाव्रतों को ग्रहण करके बाद में अपनी असावधानता एवं प्रमादवश उनका यथोचित पालन नहीं करता और अपनी आत्मा का निग्रह न कर सकने के कारण इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बन कर रसलोलुप बन जाता है। ऐसा भिक्षु रागद्वेष रूपी संसार के बन्धनों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकता क्योंकि किसी भी वस्तु को छोड़ देना सरल है किन्तु उसकी आसक्ति को दूर करना बहुत मुश्किल है।

(३) ईर्या (उपयोग पूर्वक चलना), भाषा (उपयोग पूर्वक निर्दोष भाषा बोलना), एषणा (निर्दोष भिक्षा आदि ग्रहण करने की वृत्ति), पात्र, कम्बल, वस्त्रादि को यतनापूर्वक उठाना, रखना तथा कारणवशात् बची हुई अधिक वस्तु को तथा मल मूत्र आदि त्याज्य वस्तुओं को यतना पूर्वक निर्दोष स्थान में परठना, इन पाँच समितियों का जो साधु पालन नहीं करता वह वीतराग प्ररूपित धर्म का आराधन नहीं कर सकता।

(४) जो बहुत समय तक साधुव्रत की क्रिया करके भी अपने व्रत नियमों में अस्थिर हो जाता है तथा तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों से भ्रष्ट हो जाता है ऐसा साधु बहुत वर्षों तक त्याग, संयम, केश लोच आदि कष्टों द्वारा अपने शरीर को सुखाने पर भी संसार सागर को पार नहीं कर सकता।

(५) ऐसा साधु पोली मुट्ठी अथवा खोटे रुपये की तरह सार (मूल्य) रहित हो जाता है, जैसे वैडूर्यमणि के सामने काच का टुकड़ा निरर्थक (व्यर्थ) है वैसे ही ज्ञानी पुरुषों के सामने वह साधु

सिद्धान्त के अनुसार विचार करने वाला आराधक कहा जाता है उसका विचार सत्य है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ के सिद्धान्त से विपरीत विचरता है, जीवादि पदार्थों को एकान्त नित्य आदि बताता है वह विराधक है। उसका विचार असत्य है। जहाँ वस्तु को सत्य या असत्य किसी प्रकार सिद्ध करने की इच्छा न हो केवल वस्तु का स्वरूप मात्र दिखाया जाय, जैसे- देवदत्त! घड़ा लाओ इत्यादि चिन्तन में वहाँ सत्य या असत्य कुछ नहीं होता। आराधक विराधक की कल्पना भी वहाँ नहीं होती। इस प्रकार के विचार को असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। यह भी व्यवहार नय की अपेक्षा है। निश्चय नय से तो इसका सत्य या असत्य में समावेश हो जाता है।

(५-६-७-८) ऊपर लिखे मनोयोग के अनुसार वचन योग के भी चार भेद हैं- (५) सत्य वचन योग (६) असत्य वचन योग (७) सत्यमृषा वचन योग (८) असत्यामृषा वचन योग।

काय योग के सात भेद

(९) औदारिक शरीर काय योग- काय का अर्थ है समूह। औदारिक शरीर पुद्गल स्कन्धों का समूह है, इस लिए काय है। इस में होने वाले व्यापार को औदारिक शरीर काय योग कहते हैं। यह योग पर्याप्त तिर्यञ्च और मनुष्यों के ही होता है।

(१०) औदारिक मिश्र शरीर काय योग- वैक्रिय, आहारक और कार्मण के साथ मिले हुए औदारिक को औदारिक मिश्र कहते हैं। औदारिक मिश्र के व्यापार को औदारिक मिश्र शरीर काय योग कहते हैं।

(११) वैक्रिय शरीर काय योग- वैक्रिय शरीर पर्याप्ति के कारण पर्याप्त जीवों के होने वाला वैक्रिय शरीर का व्यापार वैक्रिय शरीर काय योग है।

मुमुक्षु का कर्तव्य है। (उत्तराध्ययन महानिर्ग्रन्थीय नामक २० वां अध्ययन)

८५५– योग अथवा प्रयोगगति पन्द्रह

मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्त राय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से मन वचन और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्मप्रदेशों में होने वाले परिस्पंद, कंपन या हलन चलन को भी योग कहते हैं। आलम्बन के भेद से इसके तीन भेद हैं–मन, वचन और काया। इनमें मन के चार। वचन के चार और काया के सात, इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं। पन्नवणा सूत्र में योग के स्थान पर प्रयोग शब्द है। इन्हीं को प्रयोगगति भी कहा जाता है–

(१) सत्य मनोयोग– मन का जो व्यापार सत् अर्थात् सज्जन पुरुष या साधुओं के लिये हितकारी हो, उन्हें मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो उसे सत्यमनोयोग कहते हैं अथवा जीवादि पदार्थों के अनेकान्त रूप यथार्थ विचार को सत्य मनोयोग कहते हैं।

(२) असत्य मनोयोग– सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाले मन के व्यापार को असत्य मनोयोग कहते हैं अथवा जीवादि पदार्थ नहीं हैं, एकान्त सत् हैं इत्यादि एकान्त रूप मिथ्या विचार असत्य मनोयोग है।

(३) सत्यमृषा मनोयोग– व्यवहार नय से ठीक होने पर भी निश्चय नय से जो विचार पूर्ण सत्य न हो, जैसे– किसी उपवन में धव, खैर, पलाश आदि के कुछ पेड़ होने पर भी अशोक वृक्ष अधिक होने से उसे अशोक वन कहना। वन में अशोकवृक्षों के होने से यह बात सत्य है और धव आदि के वृक्ष होने से मृषा (असत्य) भी है।

(४) असत्यामृषा मनोयोग– जो विचार सत्य नहीं है और असत्य भी नहीं है उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। किसी प्रकार का विवाद खड़ा होने पर वीतराग सर्वज्ञ के बताए हुए

जीव के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं इस लिए उन दोनों का सर्वबन्ध नहीं होता, केवल देशबन्ध ही होता है। बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद हैं–

(१) औदारिक-औदारिक बन्धन– जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत अर्थात् पहले ग्रहण किए हुए औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण अर्थात् जिन का वर्तमान समय में ग्रहण किया जा रहा हो ऐसे औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जावे उसे औदारिक औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(२) औदारिक तैजस बन्धन–जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो उसे औदारिक तैजस बन्धन नामकर्म कहते हैं।

(३) औदारिक कार्मण बन्धन– जिस कर्म के उदय से औदारिक पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है उसे औदारिक कार्मण बन्धन नामकर्म कहते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। बन्धन नामकर्म के शेष भेद निम्न लिखित हैं–

(४) वैक्रिय वैक्रिय बन्धन।
(५) वैक्रिय तैजस बन्धन।
(६) वैक्रिय कार्मण बन्धन।
(७) आहारक आहारक बन्धन।
(८) आहारक तैजस बन्धन।
(९) आहारक कार्मण बन्धन।
(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन।
(११) वैक्रिय तैजस कार्मण बन्धन।
(१२) आहारक तैजस कार्मण बन्धन।

(१२) वैक्रिय मिश्र शरीर काय योग--देव और नारकी जीवों के अपर्याप्त अवस्था में होने वाला काय योग वैक्रिय मिश्र शरीर काययोग है। यहाँ वैक्रिय और कार्मण की अपेक्षा मिश्र योग होता है।

(१३) आहारक शरीर काययोग-- आहारक शरीर पर्याप्ति के द्वारा पर्याप्त जीवों को आहारक शरीर काययोग होता है।

(१४) आहारक मिश्र शरीर काययोग--जिस समय आहारक शरीर अपना कार्य करके वापिस आकर औदारिक शरीर में प्रवेश करता है उस समय आहारक मिश्र शरीर काय योग होता है।

(१५) तैजस कार्मण शरीर योग--विग्रह गति में तथा सयोगी केवली को समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में तैजस कार्मण शरीर योग होता है। तैजस और कार्मण सदा एक साथ रहते हैं, इस लिए उन के व्यापार रूप काय योग को भी एक ही माना है।

काय योग के सात भेदों का विशेष स्वरूप इसी के दूसरे भाग के बोल नं० ५४७ में दिया गया है।

(पन्नवणा पद १६) (भगवती शतक २५ उद्देशा १)

८५६--बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद

जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थ दो वस्तुओं को आपस में जोड़ देते हैं उसी प्रकार जो कर्म शरीरनामकर्म के बल से वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले पुद्गलों को पहले ग्रहण किए हुए पुद्गलों के साथ जोड़ देता है, उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके बल से औदारिक आदि शरीरों द्वारा ग्रहण होने वाले नए पुद्गल शरीर के साथ चिपक कर एकमेक हो जाते हैं।

पाँच शरीरों में औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये प्रत्येक भव में नए पैदा होते हैं इस लिए प्रथम उत्पत्ति के समय इनका सर्वबन्ध और बाद में देशबन्ध होता है अर्थात् उसी शरीर में नए नए पुद्गल आकर चिपकते रहते हैं। तैजस और कार्मण शरीर

पठनपाठन) और कृषि (खेती) तथा आजीविका के दूसरे साधन रूप कर्म अर्थात् व्यवसाय हों उन्हें कर्मभूमि कहते हैं। कर्मभूमियाँ पन्द्रह हैं अर्थात् पन्द्रह क्षेत्रों में उपरोक्त कर्म होते हैं– पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह।

(१-५) पाँच भरत– जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध द्वीप में दो। इस प्रकार पाँच भरत हो जाते हैं।

(६-१०) पाँच ऐरवत– जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार पाँच ऐरवत हो जाते हैं।

(११-१५) पाँच महाविदेह– जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्द्ध में दो। इस प्रकार कुल ५ महाविदेह हो जाते हैं।

उपरोक्त पन्द्रह क्षेत्रों में से जम्बूद्वीप में तीन क्षेत्र हैं– १ भरत १ ऐरवत और १ महाविदेह। धातकीखण्ड में छः क्षेत्र हैं– २ भरत २ ऐरवत और दो महाविदेह। इसी प्रकार पुष्करार्द्ध में भी ६ क्षेत्र हैं। कुल मिलाकर पन्द्रह हो जाते हैं।

(पन्नवणा पद १ सूत्र ६३) (भगवती शतक २० उद्देशा ८)

८५९– परमाधार्मिक पन्द्रह

पापाचरण और क्रूर परिणामों वाले असुरजाति के देव जो तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार के दुःख देते हैं वे परमाधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के होते हैं–

(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनुः (११) कुम्भ (१२) वालुका (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष।

इनके भिन्न भिन्न कार्य दूसरे भाग, बोल नं० ५६० (नरक सात पृष्ठ ३२४ प्रथमावृत्ति) में दिए जा चुके हैं।

(समवायांग १५ समवाय)

(१३) तैजस तैजस बन्धन।
(१४) तैजस कार्मण बन्धन।
(१५) कार्मण कार्मण बन्धन।
(कर्मग्रन्थ पहला गाथा ३६ और ३७)(कर्मप्रकृति गाथा १)

८५७– तिथियों के नाम पन्द्रह

एकम से लेकर पूर्णिमा या अमावस्या तक पन्द्रह तिथियाँ हैं। चन्दपण्णत्ति में इनके नाम नीचे लिखे अनुसार दिए हैं–

प्रचलित नाम	दिन का नाम	रात्रि का नाम
(१) प्रतिपदा	पूर्वांग	उत्तमा
(२) द्वितीया	सिद्धमनोरम	सुनक्षत्रा
(३) तृतीया	मनोहर	एलापत्री
(४) चतुर्थी	यशोभद्र	यशोधरा
(५) पंचमी	यशोधर	सौमनसी
(६) षष्ठी	सर्वकाम समेध	श्रीभूता
(७) सप्तमी	इन्द्रमूर्धाभिषेक	विजया
(८) अष्टमी	सौमनस	वैजयन्ती
(९) नवमी	धनञ्जय	जयन्ती
(१०) दशमी	अर्थसिद्ध	अपराजिता
(११) एकादशी	अभिजित्	इच्छा
(१२) द्वादशी	अत्यसन	समाहारा
(१३) त्रयोदशी	शतंजय	तेजा
(१४) चतुर्दशी	अग्निवेश	अतितेजा
(१५) पञ्चदशी (पूर्णिमा)	उपशम	देवानन्दा

(चन्द्रप्रज्ञप्ति प्राभृत १० प्रतिप्राभृत १४)

८५८– कर्मभूमि पन्द्रह

जिन क्षेत्रों में असि (शस्त्र और युद्धविद्या) मसि (लेखन और

(४) भाड़ी कम्मे (भाटक कर्म)–भाड़ा कमाने के लिए गाड़ी आदि से दूसरे के सामान को ढोना। आवश्यकनिर्युक्ति में पशु को भाड़े पर देना भी भाड़ीकर्म बतलाया है।

(५) फोडी कम्मे (स्फोटन कर्म)–कुदाली, हल वगैरह से भूमि को फोड़ना और उसमें से निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु आदि पदार्थों को बेच कर आजीविका चलाना।

(६) दंत वाणिज्जे (दन्तवाणिज्य)–हाथी दाँत, शंख, केश, नख, चर्म आदि का धन्धा करना अर्थात् हाथी दाँत आदि निकालने वालों से इन चीजों को खरीदना, पेशगी रकम या आर्डर देकर उन्हें निकलवाना और उन्हें बेच कर आजीविका चलाना दंत-वाणिज्य है। (आवश्यकनिर्युक्ति)

(७) लक्खवाणिज्जे (लाक्षावाणिज्य)–लाख का व्यापार करना। जिन वस्तुओं को तैयार करने में त्रस जीवों की हिंसा हो ऐसी खान, वृक्ष, या त्रस जीवों से पैदा होने वाली सभी वस्तुएं यहाँ लाक्षा शब्द से ले ली जाती हैं। उन में से किसी का व्यापार करना लाक्षावाणिज्य है।

नोट–रेशम बनाने का धन्धा भी लाक्षावाणिज्य में आ जाता है।

(८) रसवाणिज्जे (रसवाणिज्य)–मदिरा वगैरह का व्यापार अर्थात् कलाल का धन्धा करना।

(६) विसवाणिज्जे (विषवाणिज्य)–अफीम, संखिया आदि विषैली वस्तुओं का व्यापार करना। विष शब्द से वे सभी शस्त्र भी ले लिए जाते हैं जिनका प्रयोजन जीवों की हिंसा करना है।

(१०) केसवाणिज्जे (केशवाणिज्य)–केशवाले प्राणी अर्थात् दास, दासी, गाय, हाथी, घोड़ा आदि को बेचने का धन्धा करना।

(११) जंतपीलणयाकम्मे (यन्त्रपीड़नकर्म)–तिल और ईख आदि को घानी या कोल्हू में पील कर तेल या रस निकालने का

सोलहवाँ बोल संग्रह

८६१– दशवैकालिक सूत्र द्वितीय चूलिका की सोलह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र में दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। पहली चूलिका में १८ गाथाएं हैं। उनमें धर्म में स्थिर होने का मार्ग बताया गया है। दूसरी चूलिका का नाम विविक्तचर्या है। इस में सोलह गाथाएं हैं और साधु के लिए विहार आदि का उपदेश दिया गया है। गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है–

(१) केवली द्वारा भाषित श्रुत स्वरूप चूलिका को कहूँगा, जिसे सुन कर धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

(२) जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है तो वह नदी के वेग के साथ समुद्र की ओर बहने लगता है इसी प्रकार जो जीव विषय रूपी नदी के प्रवाह में पड़े हुए हैं वे संसार समुद्र की ओर बहे जा रहे हैं। जो जीव संसार सागर से विमुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखते हैं उन्हें विषय रूपी प्रवाह से हट कर अपने को संयम रूपी सुरक्षित स्थान में स्थापित करना चाहिए।

(३) जिस प्रकार काठ नदी में अनुस्रोत (बहाव के अनुसार) बिना किसी कठिनाई के सरलता पूर्वक चला जाता है किन्तु प्रतिस्रोत (बहाव के विपरीत) चलने में कठिनाई होती है उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वाभाविक रूप से अनुस्रोत अर्थात् विषय भोगों की ओर बढ़े चले जाते हैं। प्रतिस्रोत अर्थात् विषय भोगों से विमुख होकर संयम की ओर बढ़ना बहुत कठिन है। सांसारिक कार्यों के लिए बड़े बड़े वीर कहलाने वाले व्यक्ति भी संयम के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।

सोलहवाँ बोल संग्रह

८६१– दशवैकालिक सूत्र द्वितीय चूलिका की सोलह गाथाएं

दशवैकालिक सूत्र में दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। पहली चूलिका में १८ गाथाएं हैं। उनमें धर्म में स्थिर होने का मार्ग बताया गया है। दूसरी चूलिका का नाम विविक्तचर्या है। इस में सोलह गाथाएं हैं और साधु के लिए विहार आदि का उपदेश दिया गया है। गाथाओं का भावार्थ क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है–

(१) केवली द्वारा भाषित श्रुत स्वरूप चूलिका को कहूँगा, जिसे सुन कर धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

(२) जब काठ नदी के प्रवाह में गिर जाता है तो वह नदी के वेग के साथ समुद्र की ओर बहने लगता है इसी प्रकार जो जीव विषय रूपी नदी के प्रवाह में पड़े हुए हैं वे संसार समुद्र की ओर बहे जा रहे हैं। जो जीव संसार सागर से विमुख होकर मुक्ति जाने की इच्छा रखते हैं उन्हें विषय रूपी प्रवाह से हट कर अपने को संयम रूपी सुरक्षित स्थान में स्थापित करना चाहिए।

(३) जिस प्रकार काठ नदी में अनुस्रोत (बहाव के अनुसार) बिना किसी कठिनाई के सरलता पूर्वक चला जाता है किन्तु प्रतिस्रोत (बहाव के विपरीत) चलने में कठिनाई होती है उसी प्रकार संसारी जीव भी स्वाभाविक रूप से अनुस्रोत अर्थात् विषय भोगों की ओर बढ़े चले जाते हैं। प्रतिस्रोत अर्थात् विषय भोगों से विमुख होकर संयम की ओर बढ़ना बहुत कठिन है। सांसारिक कार्यों के लिए बड़े बड़े वीर कहलाने वाले व्यक्ति भी संयम के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।

नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं इस लिए नदी में अनुस्रोत बहती हुई वस्तु समुद्र में जा पहुँचती है। इसी को अनुस्रोत गति कहते हैं। इसी प्रकार विषय भोग रूपी नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ जीव संसार समुद्र में जा पहुँचता है। इस लिए विषय भोगों की ओर जाने को अनुस्रोत कहा है। उनके विरुद्ध संयम या दीक्षा की ओर प्रवृत्त होना प्रतिस्रोत है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(४) जो साधु ज्ञानादि आचारों में पराक्रम करता है तथा इन्द्रिय जय रूप संयम का धनी है अर्थात् चित्त की अव्याकुलता रूप समाधि वाला है उसे योग्य है कि वह अनियतवास आदि रूप चर्या, मूल गुण, उत्तरगुण, पिंडविशुद्धि आदि शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार आचरण करे, अर्थात् शास्त्र में जिस समय जो जो क्रियाएं करने के लिए जैसा विधान किया गया है उसी के अनुसार आचरण करे।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई चारित्र की आराधना मोक्ष रूप फल देने वाली होती है।

(५) इस गाथा में साधु की विहार चर्या का स्वरूप बताया गया है। नीचे लिखी सात बातें साधुओं के लिए आचरणीय और प्रशस्त अर्थात् कल्याणकारी मानी गई हैं—

(क) अनियतवास— बिना किसी विशेष कारण के एक ही स्थान पर अधिक न ठहरना अनियतवास है। एक ही स्थान पर अधिक दिन ठहरने से स्थान में ममत्व हो जाने की सम्भावना है।

(ख) समुदानचर्या— अनेक घरों से गोचरी द्वारा भिक्षा ग्रहण करना समुदानचर्या है। एक ही घर से भिक्षा लेने में दोष लगने की सम्भावना है।

(ग) अज्ञात— हमेशा नए घरों से भिक्षा तथा उपकरण लेने चाहिएं। एक ही घर से सदा भिक्षा आदि लेने में आधाकर्म आदि

दोष लगने की सम्भावना है।

(घ) उञ्छ– मधुकरी या गोचरी वृत्ति के अनुसार प्रत्येक घर से थोड़ा थोड़ा आहार तथा दूसरी वस्तुएं लेना।

(ङ) प्रतिरिक्त– भीड़ रहित एकान्त स्थान में ठहरना। भीड़ भड़के वाले स्थान में कोलाहल होने से चित्त स्थिर नहीं रहता।

(च) अल्पोपधि–उपधि अर्थात् भण्डोपकरण आदि धर्म साधन थोड़े रखना। वस्त्र, पात्रादि उपकरण अधिक होने से ममत्व हो जाता है और संयम की विराधना होने का डर रहता है।

(छ) कलहविवर्जना– किसी के साथ कलह न करना।

मुनियों के लिए उपरोक्त विहारचर्या प्रशस्त मानी गई है।

(६) इस गाथा म भी साधुचर्या का वर्णन है।

(क) राज कुल आदि में या जहाँ कोई बड़ा भोज हो रहा हो, आने जाने का मार्ग लोगो से भरा हो, ऐसे स्थान में साधु को भिक्षा के लिए न जाना चाहिए। वहाँ स्त्री तथा सचित्त वस्तु आदि का संघटा हो जाने की सम्भावना है तथा भीड भड़के में धक्का लग जाने से गिर जाने आदि का डर भी है, इस लिए साधु को ऐसे स्थान में न जाना चाहिए।

(ख) स्वपक्ष या परपक्ष की ओर से अपना अपमान हो रहा हो तो उसे शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिए। क्रोध न करके क्षमाभाव धारण करना चाहिए।

(ग) उपयोग पूर्वक शुद्ध आहार पानी ग्रहण करना चाहिए।

(घ) हाथ या कड़छी आदि के किसी अचित्त द्रव्य द्वारा संसृष्ट (खरडे हुए) होने पर ही उनसे आहार पानी लेना चाहिए नहीं तो पुरःकर्म दोष की सम्भावना है। भिक्षा देने के लिए हाथ या कड़छी आदि को सचित्त पानी से धोना पुरःकर्म कहलाता है। यदि हाथ वगैरह पहले से ही शाक वगैरह से संसृष्ट अर्थात् भरे हुए हों तो

उनसे वही वस्तु परोसने में धोने की आवश्यकता नहीं रहती इस लिए वहाँ पुर:कर्म दोष की सम्भावना नहीं है।

(६) जिस पदार्थ के लेने की इच्छा हो यदि उसी से हाथ या परोसने का बर्तन संसृष्ट हो तभी उसे लेना चाहिए।

(७) मोक्षार्थी को मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करना चाहिए। किसी से ईर्ष्या न करनी चाहिए। पौष्टिक पदार्थों का अधिक सेवन न करना चाहिए। प्रतिदिन बार बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग में आत्मचिन्तन और धर्मध्यान करने से आत्मा निर्मल होती है। सदा वाचना पृच्छना आदि स्वाध्याय में लगे रहना चाहिए। स्वाध्याय से ज्ञान की वृद्धि होती है और चित्त में स्थिरता आती है।

(८) विहार करते समय साधु श्रावकों से शयन, आसन, निषद्या, भक्त, पानी आदि किसी भी वस्तु के लिए प्रतिज्ञा न करावे अर्थात् किसी भी वस्तु के लिए यह न कहे कि अमुक वस्तु लौटने पर मुझे वापिस दे देना और किसी को मत देना इत्यादि। गाँव, कुल, नगर या देश किसी भी वस्तु में साधु को ममत्व न करना चाहिए।

(९) मुनि गृहस्थों का वैयावच, अभिवादन, वन्दन, पूजन तथा सत्कार आदि न करे। ऐसे संक्लेश रहित साधुओं के संसर्ग में रहे जिन के साथ रहने में संयम की विराधना न हो।

(१०) यदि अपने से अधिक या बराबर गुणों वाला तथा संयम में निपुण कोई साधु न मिले तो मुनि पाप रहित तथा विषयों में अनासक्त होता हुआ अकेला ही विचरे किन्तु शिथिलाचारी और पासत्थों के साथ न रहे।

(११) एक स्थान पर चतुर्मास में चार महीने और दूसरे समय में उत्कृष्ट एक महीना रहने का शास्त्र में विधान है। जिस स्थान पर एक बार मासकल्प या चतुर्मास करे, दो या तीन चतुर्मास

अथवा मासकल्प दूसरी जगह बिना किए फिर उसी स्थान पर मासकल्प आदि करना नहीं कल्पता अर्थात् साधु जिस स्थान पर जितने समय रहे उससे दुगुना समय दूसरी जगह बिताने के बाद ही फिर पूर्वस्थान पर निवास कर सकता है। जिस स्थान पर चतुर्मास करे, दो चतुर्मास दूसरी जगह करने के बाद ही फिर उस स्थान पर चतुर्मास कर सकता है। इसी प्रकार जहाँ मासकल्प करे उसी जगह फिर मासकल्प दो महीनों के बाद ही कल्पता है।

इस लिए साधु को एक स्थान पर चतुर्मास या मासकल्प के बाद फिर उसी जगह चतुर्मास या मासकल्प नहीं करना चाहिए। साधु को शास्त्र में बताए हुए मार्ग के अनुसार चलना चाहिए। शास्त्र में जैसी आज्ञा है वैसा ही करना चाहिए।

(१२) जो साधु रात्रि के पहले तथा पिछले पहर में आत्म-चिन्तन करता है और विचारता है, मैंने क्या कर लिया है, क्या करना बाकी है और ऐसी कौनसी बात है जिसे मैं कर सकता हूँ फिर भी नहीं कर रहा हूँ, वही साधु श्रेष्ठ होता है।

(१३) आत्मार्थी साधु शान्त चित्त से विचार करे– जब मेरे से कोई भूल हो जाती है तो दूसरे लोग क्या सोचते हैं। मेरी आत्मा स्वयं उस समय क्या कहती है। मेरे से भूल होना क्यों नहीं छूटता है इस प्रकार सम्यक् विचार करता हुआ साधु भविष्य में दोषों से छुटकारा पा जाता है।

(१४) साधु जब कभी मन, वचन या काया को पाप की ओर झुकता हुआ देखे तो शीघ्र ही खींच कर सन्मार्ग में लगादे, जैसे लगाम खींचकर कुमार्ग में चलते हुए घोड़े को सन्मार्ग में चलाया जाता है।

(१५) जिसने चचल इन्द्रियों को जीत लिया है। जो संयम में पूरे धैर्य वाला है। मन, वचन और काया रूप तीनों योग जिस के वश में हैं, ऐसे सत्पुरुष को प्रतिबुद्ध जीवी (सदा जागता रहने वाला)

कहा जाता है, क्योंकि वह अपने जीवन को संयम में बिताता है।

(१६) सब इन्द्रियों को वश में करके समाधि पूर्वक आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं है वह जातिपथ अर्थात् जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त होती है और सुरक्षित अर्थात् पापों से बचाई हुई आत्मा सब दुःखों का अन्त करके मोक्ष रूप सुख को प्राप्त होती है। (दशवैकालिक सूत्र चूलिका)

८६२–स भिक्खु अध्ययन की सोलह गाथाएं

संसार में पतन के निमित्त बहुत हैं, इस लिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। जिस प्रकार साधु को वस्त्र, पात्र, आहार आदि आवश्यक वस्तुओं में संयम की रक्षा का ध्यान रखना आवश्यक है उसी प्रकार मान प्रतिष्ठा की लालसा को रोकना भी साधु के लिए परमावश्यक है। त्यागी जीवन के लिए जो विद्याएं उपयोगी न हों, उनके सीखने में अपने समय का दुरुपयोग न करना चाहिए। तपश्चर्या और सहिष्णुता ये आत्मविकास के मुख्य साधन हैं। इनका कथन उत्तराध्ययन सूत्र के 'स भिक्खु' नामक पन्द्रहवें अध्ययन की १६ गाथाओं में विस्तार के साथ किया गया है। उन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः यहाँ दिया जाता है–

(१) विवेक पूर्वक सच्चे धर्म का पालन करने वाला, काम भोगों से विरक्त, अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों में आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरों से भिक्षावृत्ति करके आनन्द पूर्वक संयम धर्म का पालन करने वाला ही सच्चा भिक्षु (साधु) है।

(२) राग से निवृत्त, पतन एवं असंयम से अपनी आत्मा को बचाने वाला, परीषह और उपसर्गों को सहन कर समस्त जीवों को आत्मतुल्य जानने वाला और किसी भी वस्तु में मूर्च्छित न होने वाला ही भिक्षु (साधु) है।

(३) यदि कोई पुरुष साधु को कठोर वचन कहे या मारे पीटे तो उसे अपने पूर्वसंचित कर्मों का फल जान कर समभाव पूर्वक सहन करे, अपनी आत्मा को वश में रख कर चित्त में किसी प्रकार की व्याकुलता न लाते हुए संयम मार्ग में आने वाले कष्टों को जो समभाव पूर्वक सह लेता है वही भिक्षु (साधु) कहलाता है।

(४) जो अल्प तथा जीर्ण शय्या आदि से सन्तुष्ट रहता है, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों को जो समभाव से सहन कर लेता है वही भिक्षु है।

(५) जो सत्कार या पूजा आदि की लालसा नहीं रखता, यदि कोई उसे प्रणाम करे अथवा उसके गुणों की प्रशंसा करे तो भी मन में अभिमान नहीं लाता ऐसा संयमी, सदाचारी, तपस्वी, ज्ञानवान्, क्रियावान् और आत्मशोधक पुरुष ही सच्चा भिक्षु है।

(६) संयमी जीवन के बाधक कार्यों का त्यागी, दूसरों की गुप्त बात को प्रकाशित न करने वाला, मोह और राग को उत्पन्न करने वाले सांसारिक बन्धनों में न फसने वाला और तपस्वी जीवन बिताने वाला ही सच्चा भिक्षु है।

(७) नाक, कान आदि छेदने की क्रिया, रागविद्या, भूगोल विद्या, खगोल विद्या (ग्रह नक्षत्र देख कर शुभाशुभ बतलाना), स्वप्नविद्या (स्वप्नों का फल बतलाना), सामुद्रिक शास्त्र (शरीर के लक्षणों द्वारा सुख दुःख बतलाना) अंगस्फुरण विद्या, दण्डविद्या भूगर्भविद्या (जमीन में गड़े हुए धन को जानने की विद्या), पशु, पक्षियों की बोली जानना आदि कुत्सित विद्याओं द्वारा जो अपना संयमी जीवन दूषित नहीं बनाता वही सच्चा भिक्षु है।

(८) मन्त्र प्रयोग करना, जड़ी बूटी तथा अनेक प्रकार के वैद्यक उपचारों को सीख कर काम में लाना, जुलाब देना, वमन कराना, अञ्जन बनाना, रोग आने पर आक्रन्दन करना आदि क्रियाए

योगियों के लिए योग्य नहीं हैं इस लिए जो इनका त्याग करता है वही सच्चा भिक्षु है।

(९) जो साधु क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण आदि की भिन्न भिन्न प्रकार की वीरता तथा शिल्प कला आदि की पूजा या झूठी प्रशंसा करके संयमी जीवन को कलुषित नहीं करता वही सच्चा भिक्षु है।

(१०) गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा मुनि होने के बाद जिन जिन गृहस्थों से परिचय हुआ हो उनमें से किसी के भी साथ ऐहिक सुख के लिए जो सम्बन्ध नहीं जोड़ता वही सच्चा भिक्षु है। मुनि का सब के साथ केवल पारमार्थिक भाव से ही सम्बन्ध होना चाहिए।

(११) साधु के लिए आवश्यक शय्या (घास फूस आदि) पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर में मौजूद हों किन्तु मुनि द्वारा उन पदार्थों की याचना करने पर यदि वह न दे तो उसको ज़रा भी द्वेष युक्त वचन न कहे और न मन में बुरा ही माने वही सच्चा भिक्षु है क्योंकि मुनि को मान और अपमान दोनों में समान भाव रखना चाहिये।

(१२) जो अनेक प्रकार के आहार, पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थ गृहस्थों से प्राप्त हुए हैं उनको पहले अपने साथी साधुओं में बाँट कर पीछे स्वयं आहार आदि करता है तथा अपने मन, वचन, काया को जो वश में रखता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१३) गृहस्थ के घर से ओसामण, पतली दाल, जौ का दलिया, ठंडा भोजन, जौ या कांजी का पानी आदि आहार प्राप्त कर जो उसकी निन्दा नहीं करता तथा सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर जो भिक्षावृत्ति करता है वही साधु है क्योंकि साधु को अपने संयमी जीवन के निर्वाह के लिए ही आहारादि ग्रहण करने चाहिये, जिह्वा की लोलुपता शांत करने के लिए नहीं।

(१४) लोक में देव, मनुष्य और पशुओं के अनेक प्रकार के

अत्यन्त भयंकर तथा द्वेषोत्पादक शब्द होते हैं उन्हें सुन कर जो नहीं डरता या विकार को प्राप्त नहीं होता वही सच्चा भिक्षु है।

(१५) लोक में प्रचलित भिन्न भिन्न प्रकार के वादों (तन्त्रादि शास्त्रों) को समझ कर जो अपने आत्मधर्म में स्थिर रहता हुआ संयम में दत्तचित्त रहता है, सब परीषहों को जीत कर समस्त जीवों पर आत्मभाव रखता हुआ कषायों पर विजय प्राप्त करता है तथा किसी जीव को पीड़ा नहीं पहुंचाता है वही सच्चा भिक्षु है।

(१६) जो शिल्प विद्या द्वारा अपना जीवन निर्वाह न करता हो, जितेन्द्रिय, आन्तरिक तथा बाह्य बन्धनों से मुक्त, अल्प कषाय वाला थोड़ा (परिमित) भोजन करने वाला, सांसारिक बन्धनों को छोड़ कर राग द्वेष रहित विचरने वाला ही सच्चा भिक्षु है।

(उत्तराध्ययन १५ वाँ स भिक्खु अध्ययन)

८६३-बहुश्रुत साधु की सोलह उपमाएं

निरभिमानी, निर्लोभी संयम मार्ग में सावधान, विनयवान्, बहुत शास्त्रों के ज्ञाता साधु को बहुश्रुत कहते हैं। बहुश्रुत साधु को सोलह उपमाएं दी गई हैं-

(१) जिस तरह शंख में रखा हुआ दूध दो तरह से शोभित होता है अर्थात् दूध भी सफेद होता है और शंख भी सफेद होता है, अतः शंख में रखा हुआ दूध देखने में सौम्य लगता है और वह उसमें कभी नहीं बिगड़ता। उसी तरह ज्ञानी साधु धर्मकीर्ति तथा शास्त्र इन दोनों द्वारा शोभित होता है अर्थात् ज्ञान स्वयं सुन्दर है और धारण करने वाले ज्ञानी का आचरण जब शास्त्रानुकूल हो तब उसकी आत्मा की उन्नति होती है और धर्म की भी कीर्ति बढ़ती है इस तरह ज्ञान और ज्ञानी दोनों शोभित होते हैं।

(२) जिस प्रकार कंबोज देश के घोड़ों में आकीर्ण जाति का घोड़ा ... गति (चाल) में प्रवीण, सुलक्षण और अति

वेगवान् होने से उत्तम माना जाता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी भी उत्तम माना जाता है।

(३) जैसे आकीर्ण जाति के उत्तम घोड़े पर चढ़ा हुआ दृढ़ पराक्रमी, शूरवीर पुरुष जब संग्राम में जाता है तब दोनों प्रकार से शोभित होता है अर्थात् आगे और पीछे से, बाईं तरफ से और दाहिनी तरफ से अथवा वृद्ध पुरुषों द्वारा कहे गये आशीर्वाद रूप वचनों से और बन्दी जनों द्वारा कहे गये स्तुति रूप वचनों से तथा संग्राम के लिये बजाये जाने वाले बाजों के शब्दों से वह शूरवीर पुरुष शोभित होता है उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी दोनों प्रकार से अर्थात् आन्तरिक शान्ति और बाह्य आचरण से शोभित होता है, अथवा दिन और रात के दोनों समय में की जाने वाली स्वाध्याय के घोष (ध्वनि) से बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है अथवा स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों द्वारा 'यह बहुश्रुत ज्ञानी बहुत काल तक जीवित रहे जिससे प्रवचन की बहुत प्रभावना हो' इस प्रकार कहे जाने वाले आशीर्वादों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है।

(४) जिस प्रकार अनेक हथिनियों से सुरक्षित ६० वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुआ बलवान् हाथी दूसरों से पराभूत नहीं हो सकता उसी प्रकार परिपक्व बुद्धि वाला बहुश्रुत ज्ञानी विचार एवं विवाद के अवसर पर किसी से अभिभूत नहीं होता।

(५) जैसे तीक्ष्ण सींगों वाला और अच्छी तरह भरी हुई ककुद् वाला तथा पुष्ट स्कन्ध वाला सांड पशुओं के टोले में शोभित होता है वैसे ही नैगमादि नय रूप तीक्ष्ण शृङ्गों से परपक्ष को भेदन करने वाला और प्रतिभादि गुणों से युक्त बहुश्रुत ज्ञानी साधुओं के समूह में शोभित होता है।

(६) जिस प्रकार अति उग्र तथा तीक्ष्ण दांतों वाला पराक्रमी सिंह किसी से भी पराभूत नहीं होता वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी

किसी से भी पराजित नहीं होता।

(७) जिस प्रकार पाञ्चजन्य शंख, सुदर्शन चक्र और कौमुदकी गदा से युक्त वासुदेव सदा ही अप्रतिहत और अखण्ड बलशाली होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञानी भी अहिंसा, संयम और तप से शोभित होता है।

(८) जैसे हाथी, घोड़ा, रथ और प्यादे वाली चतुरंगिनी सेना से समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला, चारों दिशाओं का जय करने वाला, नवनिधि, चौदह रत्न और छः खण्ड पृथ्वी का अधिपति, महान् ऋद्धि का धारक, सब राजाओं में श्रेष्ठ चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही चार गतियों का अन्त करने वाला तथा चौदह विद्या रूपी लब्धियों का स्वामी बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(९) जैसे एक हजार नेत्रों वाला, हाथ में वज्र धारण करने वाला, महाशक्तिशाली, पुर नामक दैत्य का नाश करने वाला देवों का अधिपति इन्द्र शोभित होता है उसी प्रकार बहुश्रुत ज्ञान रूपी सहस्र नेत्रों वाला, क्षमा रूपी वज्र को धारण करने वाला और मोह रूपी दैत्य का नाश करने वाला बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(१०) जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला, उगता हुआ सूर्य तेज से देदीप्यमान होता हुआ शोभित होता है उसी प्रकार आत्मज्ञान के तेज से दीप्त बहुश्रुत ज्ञानी शोभित होता है।

(११) जैसे नक्षत्रों का स्वामी चन्द्रमा, ग्रह तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण शोभा से प्रकाशित होता है वैसे ही आत्मिक शीतलता से बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है।

(१२) जिस प्रकार विविध धान्यों से परिपूर्ण सुरक्षित भण्डार शोभित होता है उसी तरह अङ्ग, उपाङ्ग रूप शास्त्र ज्ञान से पूर्ण बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है।

(१३) जैसे जम्बूद्वीप के अधिपति अनादृत नामक देव का जम्बू वृक्ष सब वृक्षों में शोभित होता है वैसे ही सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी साधु शोभित होता है।

(१४) नीलवान पर्वत से निकल कर सागर में मिलने वाली सीता नाम की नदी जिस प्रकार सब नदियों में श्रेष्ठ है उसी प्रकार सब साधुओं में बहुश्रुत ज्ञानी श्रेष्ठ है।

(१५) जिस प्रकार सब पर्वतों में ऊंचा, सुन्दर और अनेक औषधियों से शोभित मेरु पर्वत उत्तम है उसी प्रकार आमर्षोषधि आदि लब्धियों से युक्त अनेक गुणों से अलंकृत बहुश्रुत ज्ञानी भी सब साधुओं में उत्तम है।

(१६) जैसे अक्षय उदक (जिसका जल कभी नहीं सूखता) स्वयम्भूरमण नामक समुद्र नाना प्रकार की मरकत आदि मणियों से परिपूर्ण है वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानी भी सम्यग् ज्ञान रूपी अक्षय जल से परिपूर्ण और अतिशयवान् होता है इसलिये वह सब साधुओं में उत्तम और श्रेष्ठ है।

उपरोक्त गुणों से युक्त, समुद्र के समान गम्भीर, परीषह उपसर्गों को समभाव से सहन करने वाला कामभोगों में अनासक्त, श्रुत से परिपूर्ण तथा समस्त प्राणियों का रक्षक महापुरुष बहुश्रुत ज्ञानी शीघ्र ही कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है।

ज्ञान अमृत है। वह शास्त्रों द्वारा, सत्सग द्वारा और महापुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त होता है, अतः मोक्षाभिलाषी प्रत्येक प्राणी को श्रुत (ज्ञान) प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

(उत्तराध्ययन अध्ययन ११ गाथा १५ से ३२)

८६४– दीक्षार्थी के सोलह गुण

गृहस्थ पर्याय छोड कर पाँच महाव्रत रूप संयम अंगीकार करने को दीक्षा कहते हैं। दीक्षा अर्थात् मुनिव्रत अंगीकार करने वाले

में नीचे लिखे सोलह गुण होने चाहिए।

(१) आर्यदेशसमुत्पन्न–जिन देशों में तीर्थङ्कर, [illegible] देव, वासुदेव आदि उत्तम पुरुष होते हैं [illegible] धर्मभावना भी आर्यदेश में ही होती है, इस लिए दीक्षा [illegible] करके संयम का पालन वही कर सकता है जो [illegible] उत्पन्न हुआ हो। जैसे मरुस्थल में कल्पवृक्ष नहीं [illegible] ही अनार्य देश में उत्पन्न व्यक्ति धर्म में सच्ची श्रद्धा [illegible] सकता, अतः दीक्षार्थी का पहला गुण यह है कि उसकी [illegible] आर्यदेश में हुई हो।

(२) शुद्धजातिकुलान्वित– जिसके जाति [illegible] और कुल अर्थात् पितृपक्ष दोनों शुद्ध हों। शुद्ध [illegible] वाला संयम का निर्दोष पालन करता है। [illegible] होने पर भी कुलीन होने के कारण रथनेमि [illegible]

(३) क्षीणप्रायाशुभकर्मा–जिस के [illegible] बाधा डालने वाले कर्म क्षीण अर्थात् नष्ट [illegible] बन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्या[illegible] क्षयोपशम या उपशम हुए बिना कोई [illegible] कर सकता। ऊपर से दीक्षा ले लेने [illegible] करना उसके लिए असम्भव है।

(४) विशुद्धधी–अशुभ कर्मों [illegible] निर्मल हो गई हो। निर्मल बुद्धि वाला [illegible] समझ कर उसका शुद्ध पालन करता है [illegible]

(५) विज्ञातसंसारनैर्गुण्य– [illegible] णता अर्थात् व्यर्थता को जान लिया [illegible] जिसका जन्म होता है उसकी [illegible] चञ्चल है, [illegible]

होता है उनका वियोग भी अवश्य होता है, प्राणियों की मृत्यु प्रति क्षण होती रहती है। कहा भी है–

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे वसत्यै नरवीर ! लोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति॥

अर्थात्– महर्षि व्यास युधिष्ठिर को कह रहे हैं– हे नरवीर ! प्राणी पहले पहल जिस रात को गर्भ में बसने के लिए आता है उसी रात से वह दिन रात प्रयाण करता हुआ मृत्यु के समीप जा रहा है।

मृत्यु का फल बहुत ही दारुण अर्थात् भयङ्कर होता है क्योंकि उस समय सब तरह की चेष्टाएं अर्थात् हलन चलन बन्द हो जाती हैं और जीव सभी प्रकार से असमर्थ तथा लाचार हो जाता है।

इस प्रकार संसार के स्वभाव को जानने वाला व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी होता है।

(६) विरक्त– जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो गया हो क्योंकि सांसारिक विषयभोगों में फंसा हुआ व्यक्ति उन्हें नहीं छोड़ सकता।

(७) मन्दकषायभाक्– जिस व्यक्ति के क्रोध, मान आदि चारों कषाय मन्द हो गए हों। स्वयं अल्प कषाय वाला होने के कारण वह अपने और दूसरे के कषाय आदि को शान्त कर सकता है।

(८) अल्प हास्यादि विकृति– जिसके हास्यादि नोकषाय कम हों। अधिक हँसना आदि गृहस्थों के लिए भी निषिद्ध है।

(९) कृतज्ञ– जो दूसरे द्वारा किए हुए उपकार को मानने वाला हो। कृतघ्न व्यक्ति लोक में निन्दा प्राप्त करता है इस लिए भी वह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१०) विनयान्वित– दीक्षार्थी विनयवान् होना चाहिए क्योंकि विनय ही धर्म का मूल है।

(११) राजसम्मत– दीक्षार्थी राजा, मन्त्री आदि के सम्मत व अनुकूल होना चाहिए। राजा आदि से विरोध करने वाले

को दीक्षा देने से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है।

(१२) अद्रोही– जो झगडालू तथा ठग, धूर्त न हो।

(१३) सुन्दराङ्गभृत्– सुन्दर शरीर वाला हो अर्थात् उस का कोई अंग हीन या गया हुआ न होना चाहिए। अपाङ्ग या नष्ट अवयव वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता।

(१४) श्राद्ध– श्रद्धा वाला। दीक्षित भी यदि श्रद्धा रहित हो तो अङ्गारमर्दक के समान वह त्यागने योग्य हो जाता है।

(१५) स्थिर– जो अङ्गीकार किए हुए व्रत में स्थिर रहे। प्रारम्भ किए हुए कार्य को बीच में छोड़ने वाला न हो।

(१६) समुपसम्पन्न– पूर्वोक्त गुणों वाला होकर भी जो दीक्षा लेने के लिए पूरी इच्छा से गुरु के पास आया हो।

उपरोक्त सोलह गुणों वाला व्यक्ति दीक्षा के योग्य होता है।

(धर्म संग्रह अधिकार ३ गाथा ७३-७८)

८६५– गवेषणा (उद्गम) के १६ दोष

आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्न मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे॥२॥

(१) आधाकर्म– किसी खास साधु को मन में रख कर उस के निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त को पकाना आधाकर्म कहलाता है। यह दोष चार प्रकार से लगता है। प्रतिसेवन– आधाकर्मी आहार का सेवन करना। प्रतिश्रवण– आधाकर्मी आहार के लिये निमन्त्रण स्वीकार करना। संवसन– आधाकर्मी आहार भोगने वालों के साथ रहना। अनुमोदन– आधाकर्मी आहार भोगने वालों की प्रशंसा करना।

(२) औद्देशिक– सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से जो

आहारादि तैयार किये जाते हैं, उन्हें औद्देशिक कहते हैं। इनके दो भेद हैं- ओघ और विभाग। भिक्षुओं के लिये अलग तैयार न करते हुए अपने लिये बनते हुए आहारादि में ही कुछ और मिला देना ओघ है। विवाहादि में याचकों के लिये अलग निकाल कर रख छोड़ना विभाग है। यह उद्दिष्ट, कृत और कर्म के भेद से तीन प्रकार का है। फिर प्रत्येक के उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश इस तरह चार चार भेद हैं। इन सब की विस्तृत व्याख्या नीचे लिखे हुए ग्रन्थों से जाननी चाहिए। किसी खास साधु के लिये बनाया गया आहार अगर वही साधु ले तो आधाकर्म, दूसरा ले तो औद्देशिक है। आधाकर्म पहिले से ही किसी खास निमित्त से बनाया जाता है। औद्देशिक साधारण दान के लिये पहिले या बाद में कल्पित किया जाता है।

(३) पूतिकर्म- शुद्ध आहार में आधाकर्मादि का अंश मिल जाना पूतिकर्म है। आधाकर्मी आहार का थोड़ा सा अंश भी शुद्ध और निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। शुद्ध चारित्र पालने वाले संयमी के लिये वह अकल्पनीय है। जिसमें ऐसे आहार का अंश लगा हो ऐसे बर्तन को भी टालना चाहिये।

(४) मिश्रजात- अपने और साधु के लिये एक साथ पकाया हुआ आहार मिश्रजात कहलाता है। इसके तीन भेद हैं- यावदर्थिक, पाखण्डिमिश्र और साधुमिश्र। जो आहार अपने लिये और सभी याचकों के लिये इकट्ठा बनाया जाय वह यावदर्थिक है। जो अपने और साधु सन्यासियों के लिये इकट्ठा बनाया जाय वह पाखण्डिमिश्र है। जो सिर्फ अपने और साधुओं के लिये इकट्ठा किया जाय वह साधुमिश्र है।

(५) स्थापन- साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिये आहार को अलग रख देना स्थापन है।

(६) प्राभृतिका– साधु को विशिष्ट आहार वहराने के लिये जीमनवार या निमंत्रण के समय को आगे पीछे करना।

(७) प्रादुष्करण– देय वस्तु के अन्धेरे में होने पर अग्नि, दीपक आदि का उजाला करके या खिड़की वगैरह खोल कर वस्तु को प्रकाश में लाना अथवा आहारादि को अन्धेरी जगह से प्रकाश वाली जगह में लाना प्रादुष्करण है।

(८) क्रीत– साधु के लिये मोल लिया हुआ आहारादि क्रीत है।

(९) प्रामित्य (पामिच्चे)– साधु के लिये उधार लिया हुआ आहारादि प्रामित्य कहलाता है।

(१०) परिवर्तित– साधु के लिए अट्टा सट्टा करके लिया हुआ आहार परिवर्तित कहलाता है।

(११) अभिहृत (अभिहडे)– साधु के लिये गृहस्थ द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार।

(१२) उद्भिन्न– साधु को घी वगैरह देने के लिये कुप्पी आदि का मुंह (छाणन) खोल कर देना।

(१३) मालापहृत– ऊपर नीचे या तिरछी दिशा में जहाँ आसानी से हाथ न पहुँच सके वहाँ पजों पर खड़े होकर या निःसरणी आदि लगा कर आहार देना। इसके चार भेद हैं– ऊर्ध्व, अधः, उभय और तिर्यक्। इनमें से भी हर एक के जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम रूप से तीन २ भेद हैं। एड़ियों उठा कर हाथ फैलाते हुए छत में टगे छींके वगैरह से कुछ निकालना जघन्य ऊर्ध्व-मालापहृत है। सीढ़ी वगैरह लगा कर ऊपर के मंजिल से उतारी गई वस्तु उत्कृष्ट मालापहृत है। इनके बीच की वस्तु मध्यम है। इसी तरह अधः, उभय और तिर्यक् के भेद भी जानने चाहिये।

(१४) आच्छेद्य– निर्बल व्यक्ति या अपने आश्रित रहने वाले नौकर चाकर और पुत्र वगैरह से छीन कर साधुजी को

देना। इसके तीन भेद हैं– स्वामिविषयक, प्र
स्तेनविषयक। ग्राम का मालिक स्वामी और अपने
प्रभु कहलाता है। चोर और लुटेरे को स्तेन कहते
किसी से कुछ छीन कर साधुजी को दे तो क्रमशः तीं

(१५) अनिसृष्ट– किसी वस्तु के एक से अधि
पर सब की इच्छा के बिना देना अनिसृष्ट है।

(१६) अध्यवपूरक– साधुओं का आगमन सु
में अधिक कर देना अर्थात् अपने लिये बनते हुए भो
का आगमन सुन कर उनके निमित्त से और मिला

नोट– उद्गम के सोलह दोषों का निमित्त गृहस्
वाला होता है।

(प्रवचन सारोद्धार गाथा ५६५, ५६६) (धर्मसंग्रह अधि
(पिण्डनिर्युक्ति गाथा ९२, ९३) (पंचाशक १३ वाँ गाथा ५,

८६६– ग्रहणैषणा (उत्पादना) के

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छे
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस ए ए
पुव्विंपच्छासंथव विज्जा मंते य चुण्ण जोगे
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥

(१) धात्री– बच्चे को खिलाना पिलाना आदि धाय क
करके या किसी घर में धाय की नौकरी लगवा कर आहार

(२) दूती– एक दूसरे का सन्देशा गुप्त या प्रकट रूप से
कर दूत का काम करके आहारादि लेना।

(३) निमित्त– भूत और भविष्यत् को जानने के शुभ
निमित्त बतला कर आहारादि लेना।

(४) आजीव– स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अपनी जाति औ
आदि प्रकट करके आहारादि लेना।

(५) वनीपक– श्रमण, शाक्य, सन्यासी आदि में जो जिसका भक्त हो उसके सामने उसी की प्रशंसा करके या दीनता दिखा कर आहारादि लेना।

(६) चिकित्सा– औषधि करना या बताना आदि चिकित्सक का काम करके आहारादि ग्रहण करना।

(७) क्रोध– क्रोध करके या गृहस्थ को शापादि का भय दिखा कर भिक्षा लेना।

(८) मान– अभिमान से अपने को प्रतापी, तेजस्वी, बहुश्रुत बताते हुए अपना प्रभाव जमा कर आहारादि लेना।

(९) माया– वञ्चना या छलना करके आहारादि ग्रहण करना।

(१०) लोभ– आहार में लोभ करना अर्थात् भिक्षा के लिए जाते समय जीभ के लालच से यह निश्चय करके निकलना कि आज तो अमुक वस्तु ही खाएंगे और उसके अनायास न मिलने पर इधर उधर ढूंढना तथा दूध आदि मिल जाने पर जिह्वास्वादवश चीनी आदि के लिए इधर उधर भटकना लोभपिण्ड है।

(११) पूर्वपश्चात्संस्तव (पुव्विपच्छा संथव)– आहार लेने के पहले या पीछे देने वाले की प्रशंसा करना।

(१२) विद्या– स्त्रीरूप देवता से अधिष्ठित या जप, होम आदि से सिद्ध होने वाली अक्षरों की रचना विशेष को विद्या कहते हैं। विद्या का प्रयोग करके आहारादि लेना विद्यापिण्ड है।

(१३) मन्त्र– पुरुषरूप देवता के द्वारा अधिष्ठित ऐसी अक्षर रचना जो पाठ मात्र से सिद्ध हो जाय उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के प्रयोग से लिया जाने वाला आहारादि मन्त्र पिण्ड है।

(१४) चूर्ण– अदृश्य करने वाले सुरमे आदि का प्रयोग करके जो आहारादि लिए जायँ उन्हें चूर्णपिण्ड कहते हैं।

(१५) योग– पाँव लेप आदि सिद्धियाँ बता कर जो आहारादि

लिए जायँ उन्हें योग पिण्ड कहते हैं।

(१६) मूलकर्म–गर्भस्तम्भ, गर्भाधान, गर्भपात आदि संसार सागर में भ्रमण कराने वाली सावद्य क्रियाएं करना मूलकर्म है।

नोट– उत्पादना के दोष साधु से लगते हैं। इनका निमित्त साधु ही होता है।

(प्रवचनसारोद्धार गाथा ५६७–५६८) (धर्मसंग्रह अधिकार ३ गाथा २२) (पिण्डनियुक्ति गाथा ४०८–४०९) (पंचाशक १३वाँ गाथा १८–१९) (पिण्डविशुद्धि)

८६७– साधु को कल्पनीय ग्रामादि १६ स्थान

विहार करते हुए साधु या साध्वी को नीचे लिखे सोलह स्थानों में रहना कल्पता है।

(१) ग्राम– जहाँ राज्य की तरफ से अठारह प्रकार का कर (महसूल) लिया जाता हो उसे ग्राम कहते हैं।

(२) नगर– जहाँ गाय बैल आदि का कर न लिया जाता हो ऐसी बड़ी आबादी को नगर कहते हैं।

(३) खेड़ (खेटक)– जिस आबादी के चारों ओर मिट्टी का परकोटा हो उसे खेड़ या खेड़ा कहते हैं।

(४) कब्बड़ (कर्बट)– थोड़ी आबादी वाला गाँव।

(५) मण्डप– जिस स्थान से गाँव अढ़ाई कोस की दूरी पर हो उसे मण्डप कहते हैं। ऐसे स्थान में वृक्ष के नीचे या प्याऊ आदि में साधु ठहर सकता है।

(६) पाटण (पत्तन)– व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान, जहाँ सब वस्तुएं मिलती हों उसे पाटण कहते हैं।

(७) आगर (आकर)– सोना चाँदी आदि धातुओं के निकलने की खान को आगर कहते हैं।

(८) द्रोणमुख–समुद्र के किनारे की आबादी जहाँ जाने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हों। आज कल इस

बन्दरगाह कहते हैं।

(९) निगम– जहाँ अधिकतर वाणिज्य करने वाले महाजनों की आबादी हो उसे निगम कहते हैं।

(१०) राजधानी– जहाँ राजा स्वयं रहता हो।

(११) आश्रम– जंगल में तपस्वी, सन्यासी आदि के ठहरने का स्थान आश्रम कहलाता है।

(१२) सन्निवेश– जहाँ सार्थवाह अर्थात् बड़े बड़े व्यापारी बाहर से आकर उतरते हों।

(१३) संवाह–पर्वत गुफा आदि में जहाँ किसानों की आबादी हो अथवा गाँव के लोग अपने धन माल आदि की रक्षा के लिए जहाँ जाकर छिप जाते है उसे संवाह कहते हैं।

(१४) घोष– जहाँ गाय चराने वाले गूजर लोग रहते है।

(१५) अंसिय– गाँव के बीच की जगह को अंसिय कहते हैं।

(१६) पुरभय– दूसरे दूसरे गाँवों के व्यापारी जहाँ अपनी वस्तु बेचने के लिए इकट्ठे होते है उसे पुरभय कहते हैं। आजकल इसे मण्डी कहा जाता है।

ऊपर लिखे सोलह ठिकानों में से जहाँ आबादी के चारों ओर परकोटा है और परकोटे के बाहर आबादी नहीं है वहाँ गरमी अथवा सरदी में साधु को एक मास ठहरना कल्पता है।

ऊपर लिखे ठिकानों में से परकोटे वाले स्थान में यदि परकोटे के बाहर भी आबादी है तो वहाँ साधु गरमी तथा सरदी में दो महीने ठहर सकता है, एक महीना कोट के अन्दर और एक महीना बाहर। अन्दर रहते समय गोचरी भी कोट के अन्दर ही करनी चाहिए और बाहर रहते समय बाहर।

साध्वी के लिए साधु से दुगुने काल तक रहना कल्पता है अर्थात कोट के बाहर बिना आबादी वाले स्थान में दो मास और आबादी

वाले में चार मास।

ऊपर लिखे कोटवाले स्थानों में जहाँ बाहर आने जाने के लिए एक ही द्वार हो उस स्थान में साधु और साध्वी को एक साथ रहना नहीं कल्पता अर्थात् ऐसे स्थान में साधु रहे तो साध्वी को न रहना चाहिए और साध्वी रहे तो साधु को न रहना चाहिए।

अगर ग्रामादि में आने जाने के लिए कई द्वार हों तो उनमें साधु साध्वी एक ही काल में सुख पूर्वक रह सकते हैं।

किसी बड़ी दुकान के ऊपर या आस पास जहाँ, बहुत लोगों का आना जाना हो ऐसे किसी सार्वजनिक स्थान के पास, किसी गली की नुकर पर, तिराहे या चौराहे पर, पञ्चायती के चौतरे आदि के पास, राजमार्ग में अथवा जहाँ बहुत से मार्ग इकट्ठे होते हों ऐसे स्थानों में साध्वी को रहना नहीं कल्पता। साधु को उपरोक्त स्थानों में रहना कल्पता है।

साध्वी को बिना द्वार या बिना किवाड वाले मकान में रहना नहीं कल्पता। अगर कारणवश बिना किवाड वाले किसी स्थान में रहना पड जाय तो चद्दर का एक परदा सोने की जगह और एक उस मकान के द्वार पर बाँध देना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध करके ही साध्वी को वहाँ सोना कल्पता है।

साधु खुले किवाड वाले या बिना किवाड वाले मकान में ठहर सकता है। (बृहत्कल्प उद्देशा १ सूत्र ६-१४)

८६८- आश्रव आदि के सोलह भांगे

जीवों के शुभाशुभ परिणामों के अनुसार आश्रव, क्रिया, वेदना और निर्जरा ये चार बातें होती हैं। परिणामों की तीव्रता और मन्दता के कारण ये चारों बातें महान् और अल्प रूप में परिणत होती हैं। किन जीवों में किसकी अल्पता और किसकी महत्ता पाई जाती है यह बताने के लिये आश्रव, क्रिया, वेदना और निर्जरा

इन चार के चतुःसंयोगी सोलह भंग बनते हैं। वे इस प्रकार हैं-

(१) महास्रव महाक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(२) महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(३) महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(४) महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(५) महास्रव अल्पक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(६) महास्रव अल्पक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(७) महास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(८) महास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(९) अल्पास्रव महाक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(१०) अल्पास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(११) अल्पास्रव महाक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(१२) अल्पास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।
(१३) अल्पास्रव अल्पक्रिया महावेदना महानिर्जरा।
(१४) अल्पास्रव अल्पक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा।
(१५) अल्पास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना महानिर्जरा।
(१६) अल्पास्रव अल्पक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा।

उपरोक्त सोलह भांगों में से नारकी जीवों में सिर्फ दूसरा भांगा (महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा) पाया जाता है। नारकी जीवों के बहुत कर्मों का बन्ध होता रहता है इस लिये वे महास्रव वाले हैं। कायिकी आदि बहुत क्रिया वाले होने से महाक्रिया वाले हैं तथा असातावेदनीय का तीव्र उदय होने से नारकी जीव महावेदना वाले होते हैं। इतनी तीव्र वेदना सहन करने पर भी अविरति होने के कारण नारकी जीवों के अल्प निर्जरा होती है, इस लिये महास्रव महाक्रिया महावेदना अल्पनिर्जरा रूप दूसरा भांगा उनमें घटित होता है।

असुरकुमारों से स्तनितकुमारों तक दस भवनपति देवों में सिर्फ एक चौथा भांगा (महास्रव महाक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा) पाया जाता है। इनमें असातावेदनीय का उदय प्रायः नहीं होने से वेदना भी अल्प है और निर्जरा भी अल्प है। इसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों में भी सिर्फ एक चौथा भांगा पाया जाता है।

एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य सभी में ये सोलह ही भांगे पाये जाते हैं।

(भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ४)

८६९- वचन के सोलह भेद

मन में रहा हुआ अभिप्राय प्रकट करने के लिए भाषावर्गणा के परमाणुओं को बाहर निकालना अर्थात् वाणी का प्रयोग करना वचन कहलाता है। इसके सोलह भेद हैं-

(१) एकवचन- किसी एक के लिये कहा गया वचन एक वचन कहलाता है। जैसे- पुरुषः (एक पुरुष)।

(२) द्विवचन- दो के लिए कहा गया वचन द्विवचन कहलाता है। जैसे- पुरुषौ (दो पुरुष)।

(३) बहुवचन- दो से अधिक के लिए कहा गया वचन, जैसे- पुरुषाः (तीन या उससे अधिक पुरुष)।

(४) स्त्रीवचन- स्त्रीलिंग वाली किसी वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- इयं स्त्री (यह औरत)।

(५) पुरुषवचन- किसी पुल्लिंग वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- अयं पुरुषः (यह पुरुष)।

(६) नपुंसकवचन- नपुंसकलिंग वाली वस्तु के लिए कहा गया वचन। जैसे- इदं कुण्डम् (यह कुण्ड)। कुण्ड शब्द संस्कृत में नपुंसक लिंग है। हिन्दी में नपुंसकलिंग नहीं होता।

(७) अध्यात्मवचन– मन में कुछ और रख कर दूसरे को ठगने की बुद्धि से कुछ और कहने की इच्छा होने पर भी शीघ्रता के कारण मन में रही हुई बात का निकल जाना अध्यात्मवचन है।

(८) उपनीतवचन– प्रशंसा करना, जैसे अमुक स्त्री सुन्दर है।

(९) अपनीतवचन– निन्दात्मक वचन जैसे यह स्त्री कुरूपा है।

(१०) उपनीतापनीत वचन– प्रशंसा करके निन्दा करना, जैसे– यह स्त्री सुन्दर है किन्तु दुष्ट स्वभाव वाली है।

(११) अपनीतोपनीत वचन– निन्दा के बाद प्रशंसा करना। जैसे यह स्त्री कुरूपा है किन्तु सुशील है।

(१२) अतीतवचन– भूत काल की बात कहना अतीत वचन है। जैसे मैंने अमुक कार्य किया था।

(१३) प्रत्युत्पन्न वचन– वर्तमान काल की बात कहना प्रत्युत्पन्न वचन है। जैसे– वह करता है। वह जाता है।

(१४) अनागत वचन– भविष्य काल की बात कहना अनागत वचन है। जैसे– वह करेगा। वह जायगा।

(१५) प्रत्यक्ष वचन– प्रत्यक्ष अर्थात् सामने की बात कहना। जैसे सामने उपस्थित व्यक्ति के लिए कहना 'यह'।

(१६) परोक्ष वचन– परोक्ष अर्थात् पीठ पीछे हुई बात को कहना, जैसे सामने अनुपस्थित व्यक्ति के लिए कहना 'वह' इत्यादि।

ये सोलह वचन यथार्थ वस्तु के सम्बन्ध में जानने चाहिए। इन्हें सम्यक् उपयोग पूर्वक कहे तो भाषा प्रज्ञापनी होती है। इस प्रकार की भाषा मृषाभाषा नहीं कही जाती।

(पन्नवणा पद ११ सूत्र १२) (आचारांग श्रुत० २ चूलिका १ अध्य० १३ उद्देशा १)

८७०– मेरु पर्वत के सोलह नाम

मेरु पर्वत मध्य लोक के बीच में है। उसके सोलह नाम हैं– (१) मंदर (२) मेरु (३) मनोरम (४) सुदर्शन (५) स्वयम्भ

(६) गिरिराज (७) रत्नोच्चय (८) प्रिय दर्शन (९) लोकमध्य (१०) लोकनाभि (११) अर्थ (१२) सूर्यावर्त (१३) सूर्यावरण (१४) उत्तर (भरत आदि सब क्षेत्रों से मेरुपर्वत उत्तर दिशा में पड़ता है) (१५) दिगादि (सब दिशाओं का निश्चय कराने वाला) (१६) अवतंस।

(समवायांग १६ समवाय) (जम्बूद्वीप पण्णत्ति मेरु अधिकार)

८७१- महायुग्म सोलह

राशि अर्थात् संख्याविशेष को युग्म कहते हैं। छोटी राशि को क्षुद्रयुग्म और बड़ी को महायुग्म कहते हैं। महायुग्म सोलह है। इन्हें समझने के लिए नीचे लिखे पदों का अर्थ जानना आवश्यक है।

(क) कृतयुग्म- जिस संख्या को चार से भाग देने पर कुछ बाकी न बचे अर्थात् भाग चार पर समाप्त हो जाय उसे कृतयुग्म कहते हैं।

(ख) त्र्योज- जिस संख्या को चार से भाग देने पर तीन बाकी बचें उसे त्र्योज कहते हैं।

(ग) द्वापर- जिस संख्या को चार से भाग देने पर दो बाकी बचें उसे द्वापर कहते हैं।

(घ) कल्योज- जिस संख्या को चार से भाग देने पर एक बाकी बचे उसे कल्योज कहते हैं।

(ङ) अपहार समय- जितनी बार घटाया जाय उन्हें अपहार समय कहते हैं।

(च) अपह्रियमाण वस्तु- वह संख्या जिसमें से भाग दिया जाय।

महायुग्मों में ऊपर लिखी बातें ही घुमा फिरा कर आती है। सोलह महायुग्म नीचे लिखे अनुसार हैं-

(१) कृतयुग्म कृतयुग्म- जिस राशि में चार का अपहार करते हुए चार पर पर्यवसान हो जाय अर्थात् शेष कुछ न रहे, यदि उस राशि के अपहार समय भी कृतयुग्म हों तो उसे कृतयुग्म कृतयुग्म कहते हैं। जैसे- १६। सोलह में से चार संख्या को चार ही बार

घटाया जा सकता है और अपहार (घटाना) भी चार पर समाप्त हो जाता है, शेष कुछ नहीं बचता, इस लिए यह कृतयुग्म कृतयुग्म है।

इनमें पहला पद अपहारसमय की अपेक्षा और दूसरा अपह्रियमाण वस्तु की अपेक्षा है। १६ में अपहारसमय ४ है इस लिए कृतयुग्म है। घटाई जाने वाली संख्या भी कृतयुग्म है।

(२) कृतयुग्मत्र्योज– जो राशि त्र्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर शेष तीन बच जायँ और अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार हों उसे कृतयुग्म त्र्योज कहते हैं। जैसे– १९। १९ में से चार संख्या चार ही बार घटाई जा सकती है, इस लिए अपहार समय कृतयुग्म हैं तथा चार चार घटाने पर शेष तीन बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है।

(३) कृतयुग्मद्वापरयुग्म– जो राशि द्वापर हो अर्थात् जिस में चार चार घटाने पर दो बच जायँ तथा जिसमें अपहारसमय कृतयुग्म अर्थात् चार हों तो उसे कृतयुग्म द्वापर युग्म कहते हैं। जैसे– १८। अठारह में अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार है, संख्या द्वापर है।

(४) कृतयुग्मकल्योज– जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर एक बाकी बच जाय तथा जिसमें अपहार समय चार हों उसे कृतयुग्मकल्योज कहते हैं। जैसे– १७। सतरह में अपहार समय कृतयुग्म अर्थात् चार हैं और संख्या कल्योज है।

(५) त्र्योजकृतयुग्म– जो राशि कृतयुग्म हो अर्थात् जिस में चार चार घटाने पर कुछ बाकी न बचे तथा अपहार समय त्र्योज अर्थात् तीन हों उसे त्र्योजकृतयुग्म कहते हैं। जैसे १२। बारह संख्या में चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज है और चार चार घटाने पर शेष कुछ नहीं रहता इस लिए राशि कृतयुग्म है।

(६) त्र्योज त्र्योज– जो राशि त्र्योज हो और उसमें अपहार

समय भी त्र्योज हों तो उसे त्र्योजत्र्योज कहते हैं। जैसे– १५। पन्द्रह में से चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज हैं और चार चार घटाने पर तीन बचते हैं इस लिए राशि भी त्र्योज है।

(७) त्र्योज द्वापर युग्म– जो राशि द्वापर हो अर्थात् चार चार घटाने पर दो बाकी बचें और अपहार समय त्र्योज हों अर्थात् तीन हों तो उसे त्र्योजद्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– १४। चौदह में चार चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज है और चौदह सख्या द्वापर है।

(८) त्र्योज कल्योज– जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर एक बाकी बचता हो और अपहार समय त्र्योज हों उसे त्र्योज कल्योज कहते हैं। जैसे १३। तेरह में चार चार को तीन ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय त्र्योज हैं और तेरह सख्या कल्योज है।

(९) द्वापरयुग्म कृतयुग्म– जो राशि कृतयुग्म हो अर्थात् चार चार घटाने पर अन्त में चार ही रहें कुछ बाकी न बचे तथा अपहार समय द्वापर हों अर्थात् अन्त में दो बचें तो उसे कृतयुग्म द्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– ८। आठ में से चार चार कम करने पर शेष कुछ नहीं बचता इस लिए यह कृतयुग्म है और दो ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म हैं।

(१०) द्वापरयुग्म त्र्योज– जो राशि त्र्योज हो अर्थात् जिसमें चार चार घटाने पर बाकी तीन बच जायँ और अपहार समय द्वापरयुग्म हों तो उसे द्वापर युग्म त्र्योज कहते हैं। जैसे– ११। ग्यारह में चार को दो ही बार घटाया जा सकता है, इस लिए अपहार समय द्वापर है और चार चार घटाने पर तीन बाकी बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है।

(११) द्वापरयुग्म द्वापरयुग्म– जो राशि द्वापर युग्म हो और अपहार समय भी द्वापरयुग्म हों तो उसे द्वापरयुग्म द्वापर युग्म कहते है। जैसे– १०। दस में से चार चार को दो ही बार कम किया जा सकता है इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म है और चार चार कम करने पर दो बचते हैं अतः अपह्रियमाण वस्तु भी द्वापरयुग्म है।

(१२) द्वापरयुग्मकल्योज– जो राशि कल्योज हो अर्थात् जिस में से चार चार कम करने पर एक बाकी बचे और अपहार समय द्वापर युग्म हों तो उसे द्वापरयुग्म कल्योज कहते है। जैसे– ९। नौ में से चार चार दो ही बार कम किए जा सकते हैं इस लिए अपहार समय द्वापरयुग्म हैं तथा चार चार कम करने पर शेप एक बचता है इस लिए अपह्रियमाण वस्तु कल्योज है।

(१३) कल्योजकृतयुग्म–जो राशि कृतयुग्म हो और अपहार समय कल्योज हो तो उसे कल्योजकृतयुग्म कहते है। जैसे– ४। चार में से चार घटाने पर शेप कुछ नहीं बचता इस लिए राशि कृतयुग्म है तथा चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है।

(१४) कल्योजत्र्योज– जो राशि त्र्योज हो और अपहार समय कल्योज हों तो उसे कल्योजत्र्योज कहते हैं। जैसे– ७। सात में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अप हार समय कल्योज है और चार घटाने पर शेप तीन बच जाते हैं इस लिए अपह्रियमाण वस्तु त्र्योज है।

(१५) कल्योजद्वापरयुग्म– जो राशि द्वापरयुग्म हो और अपहार समय कल्योज हो तो उसे कल्योजद्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे– ६। छः में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है और चार घटाने पर शेप दो बच जाते है इस लिए अपह्रियमाण वस्तु द्वापरयुग्म है।

(१६) कल्योज-कल्योज यदि अपहियमाण वस्तु और अप हार समय दोनों कल्योज हों तो उसे कल्योजकल्योज कहते हैं। जैसे- ५। पाँच में से चार को एक ही बार घटाया जा सकता है इस लिए अपहार समय कल्योज है तथा चार घटाने पर एक बच जाता है इस लिए अपहियमाण वस्तु भी कल्योज है।

नोट- ऊपर उदाहरण में दी गई संख्याएं जघन्य हैं। इसी क्रम से लेकर बड़ी संख्याओं को भी यथासम्भव महायुग्मों में बाँटा जा सकता है। (भगवती सूत्र शतक ३५ उद्देशा १)

८७२- द्रव्यावश्यक के सोलह विशेषण

जिस व्यक्ति ने आगम सीख लिया हो या कण्ठस्थ कर लिया हो वह जिस समय उपयोग रहित हो, उस समय उसे द्रव्यावश्यक कहते हैं। द्रव्यावश्यक के सोलह विशेषण हैं-

(१) शिक्षित- सारे आवश्यक सूत्र को सीख लिया हो।

(२) स्थित-हृदय में स्थिर कर लिया हो अर्थात् जमा लिया हो।

(३) जित-जीत लिया हो अर्थात् शीघ्र स्मरण में आने वाला बना लिया हो।

(४) मित- आवश्यक में कितने अक्षर हैं कितने पद हैं इत्यादि संख्या द्वारा उसके परिमाण को जान लिया हो।

(५) परिजित- इस प्रकार कण्ठस्थ कर लिया हो कि उल्टा करने पर भी तत्काल सारा स्मरण में आ जाय।

(६) नामसम- जिस प्रकार अपना नाम स्थिर अर्थात् जमा हुआ होता है उसी प्रकार यदि आवश्यक भी स्थिर हो जाय तो वह नामसम है।

(७) घोषसम-गुरु द्वारा बताए गए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि घोष अर्थात् स्वरों का उन्हीं के समान उच्चारण करके जो ग्रहण किया गया हो उसे घोषसम कहते हैं।

(८) प्रशस्त– जिसमें कोई अक्षर न्यून या अधिक न हो।

(९) अव्याविद्धाक्षर– किसी गँवार स्त्री द्वारा उल्टी सीधी गूँथी हुई माला की तरह जो सूत्र उलट पलट वर्णों वाला हो उसे व्याविद्धाक्षर कहते हैं। जिस सूत्र में वर्णों की रचना ठीक हो उसे अव्याविद्धाक्षर कहते हैं। यह बात अक्षर की अपेक्षा है, पद या वाक्य की अपेक्षा नहीं।

(१०) अस्खलित– पथरीली भूमि में चलाए गए हल के समान जिस सूत्र पाठ में कहीं स्खलना अर्थात् भूल न हो उसे अस्खलित कहते हैं।

(११) अमिलित– भिन्न भिन्न धान्यों के ढेर के समान जहाँ सूत्र पाठ आपस में मिला हुआ न हो उसे अमिलित कहते हैं अथवा जहाँ पद, वाक्य और श्लोक आपस में मिले हुए न हों, सभी जुदे जुदे और स्पष्ट हों वह अमिलित है।

(१२) अव्यत्याम्रेडित– एक ही शास्त्र में भिन्न भिन्न स्थानों पर कहे गए भिन्न भिन्न अर्थ वाले सूत्रों को एक जगह लाकर पढ़ना व्यत्याम्रेडित है। अथवा आचार आदि में अपने आप सूत्र बना कर उन्हें आगमों में डाल कर पढ़ना व्यत्याम्रेडित है, अथवा वाक्य में कही गई बातों को उचित क्रम से न रखना व्यत्याम्रेडित है, जैसे– राज्य करते हुए राम के शत्रु राक्षस नष्ट हो गए। वास्तव में राक्षसों का नाश होने के बाद राम को राज्य प्राप्त हुआ था। इस लिए ऊपर वाला वाक्य व्यत्याम्रेडित है। जो वाक्य व्यत्याम्रेडित न हो उसे अव्यत्याम्रेडित कहते हैं।

(१३) परिपूर्ण– जिस सूत्र में गाथाओं का परिमाण छन्द, मात्रा आदि से ठीक हो उसे सूत्र से परिपूर्ण कहते हैं। जिसमें आकांक्षा आदि दोष न हों उसे अर्थ से परिपूर्ण कहते हैं अर्थात् जो वाक्य कर्त्ता, कर्म या क्रिया आदि आवश्यक पदों की हीनता

के कारण अधूरा न हो उसे परिपूर्ण कहते हैं।

(१४) परिपूर्णघोष– आवृत्ति करते समय जिसमें उदात्त आदि स्वर पूर्ण हों। सीखते समय उदात्त आदि स्वरों का गुरु के कथनानुसार उच्चारण करना घोषसम है। सीखने के बाद पुनरावृत्ति करते समय स्वरों का ठीक ठीक उच्चारण करना परिपूर्णघोष है।

(१५) कण्ठोष्ठविप्रमुक्त– बालक अथवा गूंगे के समान जो स्वर अव्यक्त न हो। कण्ठ या ओठों में ही शब्द को न रख कर स्पष्ट उच्चारण किया गया हो।

(१६) गुरुवाचनोपगत– गुरु के द्वारा सिखाया गया हो, स्वयं पुस्तक आदि बाँच कर या स्वतन्त्र रूप से सीखा हुआ न हो अथवा छिप कर सुना हुआ न हो।

नोट– अनुयोगद्वार सूत्र में प्रशस्त के स्थान पर अहीनाक्षर और अनधिकाक्षर दोनों अलग अलग दिए हैं इसलिए उस अपेक्षा से १७ विशेषण हो जाते हैं। यहाँ विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार सोलह दिए गए हैं।

(अनुयोगद्वार १३ वां सूत्र) (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८५१–८५७)

८७३– चन्द्रगुप्त राजा के सोलह स्वप्न

पाँचवें आरे के प्रारम्भ में पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) नगर में चन्द्रगुप्त राजा राज्य करता था। उसी समय चौदह पूर्वों के धारण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए धर्म का प्रचार कर रहे थे।

चन्द्रगुप्त राजा के प्रियदर्शना नाम की भार्या थी। राजा श्रमणोपासक था। जीव अजीव आदि तत्त्वों का जानकार था। उसकी रग रग में धर्म व्याप्त रहा था।

एक बार वह पाक्षिक पौषध ग्रहण करके धर्म जागरणा कर रहा था। रात्रि के तीसरे पहर में जब कुछ जग रहा था और कुछ

सो रहा था, उसने सोलह स्वप्न देखे। स्वप्न देख कर वह जग गया और उन पर विचार करने लगा।

उन्हीं दिनों ग्रामानुग्राम विचर कर धर्म का प्रचार करते हुए श्री भद्रबाहु स्वामी पाँच सौ शिष्यों के साथ पाटलिपुत्र में पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में उतर गए।

चन्द्रगुप्त उन्हें वन्दना करने गया और विनयपूर्वक स्वप्नों का फल पूछा। भद्रबाहु स्वामी ने सभी का ठीक ठीक अर्थ बताया।

स्वप्न और उनके फल नीचे लिखे अनुसार हैं–

(१) पहले स्वप्न में राजा चन्द्रगुप्त ने कल्पवृक्ष की शाखा को टूटी हुई देखा।

भद्रबाहु स्वामी ने उसका फल बताया–भविष्य में कोई राजा संयम ग्रहण नहीं करेगा।

(२) दूसरे स्वप्न में सूर्य को अकाल में अस्त होते हुए देखा।

फल– भविष्य में कोई केवलज्ञानी न होगा अर्थात् केवलज्ञान का विच्छेद हो जायगा।

(३) तीसरे स्वप्न में चन्द्रमा को छिद्र सहित देखा।

फल– दया धर्म अनेक मार्गों वाला हो जायगा अर्थात् एक आचार्य की परम्परा को छोड़ कर भिन्न भिन्न साधु आचार्य बन कर अपनी अपनी परम्परा चलाएंगे। अनेक प्रकार की समाचारी प्रचलित हो जायगी।

(४) चौथे स्वप्न में भयङ्कर अट्टहास तथा कौतूहल करते हुए और नाचते हुए भूतों को देखा।

फल– कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की मान्यता होगी। आगम और परम्परा से विरुद्ध चलने वाले, स्वच्छन्दाचारी, अपने आप दीक्षित होने वाले, आकाश से गिरे हुए की तरह बिना आधार के सूत्र विरुद्ध प्ररूपणा करने वाले, बिना आचार के द्रव्य लिङ्ग

धारण करने वाले, इधर उधर से सूत्र के कुछ पदों को सुन कर उनके वास्तविक अर्थ को न जानने वाले, तप के चोर, वचन के चोर, सूत्र के चोर, अर्थ के चोर अर्थात् इन सब में दोष लगाने वाले, ढोंगी तथा वेषधारी साधु बहुत माने जावेंगे।

(५) पाँचवें स्वप्न में बारह फणों वाले काले साँप को देखा।

फल– बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ेगा।

(६) छठे स्वप्न में आए हुए विमान को वापिस लौटता देखा।

फल– जंघाचारण लब्धि को धारण करने वाले साधु भारत वर्ष में नहीं होंगे अर्थात् जंघाचारण विद्या विच्छिन्न हो जाएगी।

(७) सातवें स्वप्न में कमल को कचरे के ढेर (ऊकरड़े) पर उगे हुए देखा।

फल– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में से वैश्य के पास धर्म रहेगा। सभी बनिए जुदे जुदे मत को पकड़ कर खींचा-तानी करेंगे और बहुत से विराधक हो जाएंगे। सूत्रों में रुचि वाले थोड़े रहेंगे। असली साधु तथा माता पिता के समान प्रजा पर प्रेम रखने वाले गुणी राजा भी थोड़े रह जाएंगे। सौतों की तरह एक दूसरे से लड़ने वाले होंगे। आचार्य, उपाध्याय तथा चतुर्विध संघ के प्रत्यनीक (विपरीतगामी), उनका अवर्णवाद करने वाले, अपयश फैलाने वाले तथा विनयरहित होंगे। अपनी प्रशंसा करने वाले, बड़ों की बात न मानने वाले होंगे। चौपई, ढाल, कथा, स्तवन आदि में रुचि ज्यादा रहेगी।

(८) आठवें स्वप्न में खद्योत (आगिया) के प्रकाश को देखा।

फल– द्रव्यलिङ्गी साधु धर्म के सच्चे मार्ग को छोड़ कर छोटी छोटी बाह्य क्रियाओं द्वारा आडम्बर रचेंगे अर्थात् बाह्य क्रियाओं पर अधिक ध्यान देंगे और क्षमा, अहिंसा आदि धर्म की मुख्य बातों में अँधेरा रहेगा। असली साधुओं का सत्कार कम हो जाएगा। ऊपर

का दिखावा करने वाले अधिक सन्मान प्राप्त करेंगे।

(९) नवें स्वप्न में तीनों दिशाओं में सूखे हुए तथा दक्षिण में थोड़े पानी वाले समुद्र को देखा।

फल— दक्षिण दिशा में थोड़ा धर्म रहेगा। बाकी तीनों दिशाओं में उसका विच्छेद हो जायगा। जहाँ जहाँ तीर्थङ्करों के पाँचों कल्याणक हुए हैं वहाँ वहाँ धर्म की हानि होगी।

(१०) दसवें स्वप्न में सोने की थाली में कुत्ते को खीर खाते देखा।

फल— उच्च कुल की लक्ष्मी नीच कुल में चली जायगी। चोर, चुगलखोर और मिथ्यात्वी अधिक होंगे, उन्हीं के पास लक्ष्मी रहेगी। कई उत्तम पुरुष भी उत्तम मार्ग को छोड़ कर नीच मार्ग में चलने लगेंगे।

(११) ग्यारहवें स्वप्न में बन्दर को हाथी पर बैठे हुए देखा।

फल— राजद्वार तथा दूसरे स्थानों में दुर्जन तथा नीच पुरुष ऊँचे स्थान प्राप्त करेंगे। उन्हीं को प्रतिष्ठा मिलेगी। सज्जन और भले लोगों का मान थोड़ा होगा। अशुद्ध कुल तथा अनार्य जाति वाले राजा होंगे। शुद्ध वंश वाले राजा अशुद्ध वंश वाले राजाओं के सेवक होंगे। सुधर्मा स्वामी से लेकर उत्तरोत्तर पाट पर होने वाले एक आचार्य की परम्परा टूट जायगी।

(१२) बारहवें स्वप्न में समुद्र को मर्यादा छोड़ते हुए देखा।

फल— राजा लोग विश्वासघाती होंगे अर्थात् वचन देकर उसका पालन नहीं करेंगे। कई साधु वेशधारी पाँच महाव्रत छोड़ कर झूठ बोलेंगे। कूड़ कपट करने में चतुर होंगे। उत्तम आचार के बहाने विश्वास घात करेंगे।

(१३) तेरहवें स्वप्न में दो बछड़ों को बड़े रथ में जुते हुए देखा।

फल— बालक अधिक संख्या में वैराग्य प्राप्त करके चारित्र ग्रहण करेंगे। वृद्धों में प्रमाद आ जायगा।

(१४) चौदहवें स्वप्न में महामूल्य रत्न का तेज हीन देखा।

फल– भारतवर्ष के साधुओं में चारित्र रूपी तेज घट जाएगा। वे कलह करने वाले, झगडालू, अविनीत ईर्ष्यालु, संयम में दु:ख समझने वाले, आपस में प्रेम भाव थोडा रखने वाले, लिंग, प्रवचन और साधर्मिकों का अवगुण निकालने वाले, दूसरे की निन्दा तथा अपनी प्रशंसा करने वाले, संवेगधारी श्रुतधारी तथा सच्चे धर्म के प्ररूपक साधुओं से ईर्ष्या करने वाले अधिक हो जाएंगे।

(१५) पन्द्रहवें स्वप्न में राजकुमार को बैल की पीठ पर चढे देखा।

फल– क्षत्रिय राजा जिनधर्म को छोड कर मिथ्यात्व स्वीकार कर लेंगे। न्यायी पुरुष को नहीं मानेंगे। नीच की बातें अच्छी लगेंगी। कुबुद्धि को अधिक मानेंगे तथा दुर्जनों का विश्वास करेंगे।

(१६) सोलहवें स्वप्न में दो काले हाथियों को युद्ध करते देखा।

फल– अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अकालवृष्टि अधिक होगी। पुत्र और शिष्य आज्ञा में नहीं रहेंगे। देव गुरु तथा माता पिता की सेवा नहीं करेंगे। (व्यवहारचूलिका)

८७४–महावीर की वसति विषयक १६ गाथाएं

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध, नवम अध्ययन दूसरे उद्देश में सोलह गाथाएं हैं। उनमें भगवान् महावीर ने विहार करते हुए जिन जिन स्थानों पर निवास किया और जैसे आचरण किया उनका वर्णन है। गाथाओं का भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है–

(१) 'विहार करते समय भगवान् महावीर ने जिन जिन स्थानों पर निवास किया तथा जिन शयन और आसनों का सेवन किया उन्हें बताइए।' जम्बू स्वामी द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर सुधर्मा स्वामी ने कहना शुरू किया–

(२) भगवान् किसी समय दीवार वाले सूने घरों में, सभा गृह (गाँव में जो स्थान पञ्चायत आदि के लिए अथवा किसी आग

न्तुक के ठहरने के लिए होता है) में, प्याऊ में या दुकानों में ठहर जाते थे। किसी समय लुहार,वढई आदि के काम करने की दीवाल के नीचे या पलाल के बने हुए मञ्चों के नीचे निवास करते थे।

(३) कभी आगन्तार (गाँव या नगर से बाहर मुसाफिरों के ठहरने का स्थान) में, कभी उद्यान म बने हुए किसी मकान में,कभी श्मशान अथवा सूने घर में, कभी वृक्ष के नीचे उतर जाते थे।

(४) इस प्रकार के स्थानों में निवास करते हुए महामुनि महावीर कुछ अधिक साढ़े बारह वर्ष तक प्रमाद रहित तथा समाधि में लीन रहते हुए सयम में प्रयत्न करते रहे।

(५) दीक्षा लेने के बाद भगवान ने प्राय. निद्रा का सवन नहीं किया, सदा अपने को जागृत रक्खा। किसी जगह थोडी सी नींद आने पर भी वे इच्छापूर्वक कभी नहीं सोए।

नोट– अस्थिग्राम में व्यन्तरकृत उपसर्गों के बाद अन्तर्मुहूर्त के लिए भगवान् को नींद आगई थी इसके सिवाय वे कहीं नहीं सोए।

(६) निद्रा को कर्मबन्ध का कारण समझ कर वे सदा जागते रहते थे। यदि कभी नींद आने लगती तो शीतकाल की रात्रि में बाहर निकल कर मुहूर्त भर ध्यान में लीन रह कर नींद को टाल देते थे।

(७)ऊपर बताए हुए स्थानों में भगवान् को अनेक प्रकार के भयङ्कर उपसर्ग उपस्थित हुए। साँप वगैरह जन्तु तथा गिद्ध वगैरह पक्षी उनके शरीर को नोचते थे।

(८) व्यभिचारी तथा चोर आदि उन्हें सूने घर में देख कर उपसर्ग देते थे। ग्रामरक्षक शक्ति तथा भाले आदि हथियारों द्वारा कष्ट पहुँचाते थे। बहुत से पुरुष तथा उनके रूप पर मोहित होकर विषयाभिलाष वाली स्त्रियाँ उन्हें सताती थी।

(९) इस प्रकार मनुष्य तथा पशुओं द्वारा किए गए, अनेक प्रकार की सुगन्धि तथा दुर्गन्धि वस्तुओं के तथा अनेक प्रकार के

शब्दों के भयङ्कर उपसर्ग भगवान् समितिपूर्वक सहन करते थे।

(१०) भगवान विविध प्रकार के दुःख तथा रति अरति की परवाह न करते हुए, बिना अधिक बोले समिति पूर्वक सदा संयम में लीन रहते थे।

(११) निर्जन स्थान में भगवान् को खड़े देख कर लोग अथवा रात्रि के समय व्यभिचारी पुरुष पूछते थे– तुम कौन हो ? उस समय भगवान् कुछ नहीं बोलते थे। इस पर वे क्रुद्ध होकर भगवान् को पीटने लगते, किन्तु भगवान् धर्मध्यान में लीन रहते हुए उसे सम भाव पूर्वक सहन करते थे, किसी के प्रति वैर भावना नहीं रखते थे।

(१२) लोग पूछते थे, अरे ! यहाँ कौन खड़ा है ? कभी कभी भगवान् उत्तर देते– 'मैं भिक्षुक खड़ा हूँ !' यह सुन कर वे कहते– यहाँ से जल्दी चला जा। इसे सुन कर वहाँ से जाना उत्तम समझ कर भगवान् दूसरी जगह चले जाते। अगर वे कुछ न कहते और क्रोध करने लगते तो भगवान् मौन रह कर वहीं खड़े रहते।

(१३–१४–१५) शीत काल में जब ठण्डी हवा जोर से चलने लगती, लोग थर थर काँपने लगते, जब सामान्य साधु सरदी से तंग आकर बिना हवा वाले स्थान, अग्नि या कम्बल आदि की इच्छा करने लगते थे, इस प्रकार जब सरदी भयङ्कर कष्ट देने लगती उस समय भी संयमी भगवान महावीर निरीह रह कर खुले स्थान में खड़े खड़े शीत को सहन करते थे। यदि रहने के स्थान में शीत अत्यन्त असह्य हो जाता तो रात्रि को थोड़ी देर के लिए बाहर चले जाते थे। मुहूर्तमात्र बाहर घूम कर फिर निवास स्थान में आकर समभाव पूर्वक शीत को सहते थे।

(१६) निरीह और मतिमान् भगवान् महावीर ने इस प्रकार कठोर आचार का पालन किया। दूसरे मुनियों को भी उन्हीं के समान वर्तना चाहिए। (आचारांग श्रुतस्कन्ध १ अध्य० ६ उद्देशा २)

८७५– सतियाँ सोलह

अपने सतीत्व (पतिव्रत) तथा दूसरे गुणों के कारण जिन महिलाओं ने स्त्री समाज के सामने महान् आदर्श रक्खा है उन्हें सती कहा जाता है। उन्होंने बाल्यावस्था में योग्य शिक्षा, यौवन में पतिव्रत या पूर्ण ब्रह्मचर्य और अन्त में संयम ग्रहण करके अपने जीवन को पूर्ण सफल बनाया है। सतीत्व की कठोर परीक्षाओं में वे पूर्ण सफल हुई हैं। इन सतियों में भी सोलह प्रधान मानी गई हैं। उन का नाम पवित्र और मङ्गलमय समझ कर प्रातःकाल स्मरण किया जाता है। इहलोक और परलोक दोनों में सुख समृद्धि प्राप्त करने के लिए नीचे लिखा श्लोक पढ़ा जाता है–

ब्राह्मी चन्दनबालिका भगवती राजीमती द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ॥
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि सुन्दरी प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

अर्थात्– ब्राह्मी, चन्दनबाला, राजीमती, द्रौपदी, कौशल्या मृगावती, सुलसा, सीता, सुभद्रा, शिवा, कुन्ती, दमयन्ती, चूला, प्रभावती, पद्मावती और सुन्दरी प्रतिदिन हमारा मङ्गल करें।

उपरोक्त सोलह सतियों का संक्षिप्त जीवन चरित्र नीचे लिखे अनुसार है–

(१) ब्राह्मी

महाविदेह क्षेत्र में पुंडरीकिणी नाम की नगरी थी। वहाँ वैर नाम का चक्रवर्ती राजा राज्य करता था। उसने अपने चार छोटे भाइयों के साथ भगवान् वैरसेन नाम के तीर्थङ्कर के पास वैराग्य पूर्वक दीक्षा अंगीकार की।

महामुनि वैर कुछ दिनों में शास्त्र के पारगत हो गए। भगवान्

के द्वारा गच्छपालन में नियुक्त किए जाने पर वे पाँच सौ साधुओं के साथ विहार करने लगे। उनके एक भाई का नाम बाहु था। बाहु मुनि लब्धि वाले और उद्यमी थे। वे दूसरे साधुओं की अशन पान आदि के द्वारा सेवा किया करते थे। दूसरे भाई का नाम सुबाहु था। सुबाहु मुनि मन में बिना ग्लानि के स्वाध्याय आदि से थके हुए साधुओं की पगचाँपी आदि द्वारा वैयावच्च किया करते थे। तीसरे और चौथे भाई का नाम पीठ और महापीठ था। वे दिन रात शास्त्रों के स्वाध्याय में लगे रहते थे।

एक दिन आचार्य ने बाहु और सुबाहु की प्रशंसा करते हुए कहा—ये दोनों साधु धन्य हैं जो दूसरे साधुओं की धार्मिक क्रियाओं को अच्छी तरह पूरा कराने के लिए सदा तैयार रहते हैं। यह सुन कर पीठ और महापीठ मन में सोचने लगे— आचार्य महाराज ने लोक व्यवहार के अनुसार यह बात कही है क्योंकि लोक में दूसरे का काम करने वाले की ही प्रशंसा होती है। बहुत बड़ा होने पर भी जो व्यक्ति दूसरे के काम नहीं आता वह कुछ नहीं माना जाता, मन में ऐसा विचार आने से उन्होंने स्त्री जातिनामकर्म को बाँध लिया। आयुष्य पूरी होने पर वे पाँचों भाई सर्वार्थसिद्ध विमान में गए। वहाँ से चव कर वैर चक्रवर्ती का जीव भगवान् ऋषभ देव के रूप में उत्पन्न हुआ। बाहु और सुबाहु भरत और बाहुबली के रूप में उत्पन्न हुए। बाकी दो अर्थात् पीठ और महापीठ ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में उत्पन्न हुए। (पंचाशक सोलहवाँ)

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में अयोध्या नाम की नगरी थी। वर्तमान हुडावसर्पिणी के तीसरे आरे के अन्त में वहाँ नाभि राजा नाम के पन्द्रहवें कुलकर हुए। उनके पुत्र भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर, प्रथम राजा, प्रथम धर्मोपदेशक और प्रथम धर्म चक्रवर्ती थे। उनकी माता का नाम मरु देवी था। युगलधर्म का उच्छेद

हो जाने पर पहले पहल उन्होंने ही व्यवस्था की थी। उन्होंने ही पहले पहल कर्ममार्ग का उपदेश दिया था। उन्हीं के शासन में यह देश अकर्मभूमि (भोग भूमि) से बदल कर कर्मभूमि बना।

उनके दो गुणवती रानियाँ थीं। एक का नाम था सुमंगला और दूसरी का नाम सुनन्दा।

एक बार रात के चौथे पहर में सुमंगला रानी ने चौदह महास्वप्न देखे। स्वप्न देखते ही वह जग गई और सारा हाल पति को कहा। पति ने बताया कि इन स्वप्नों के फल स्वरूप तुम्हें चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी। यह सुन कर सुमंगला को बड़ी प्रसन्नता हुई। गर्भवती स्त्री के लिए बताए गए नियमों का पालन करती हुई वह प्रसन्नता पूर्वक दिन बिताने लगी।

वैद्यक शास्त्र में लिखा है– गर्भवती स्त्रियों को बहुत गरम, बहुत ठंडा, गरम मसालों वाला, तीखा, खारा, खट्टा, सड़ा गला, भारी और पतला भोजन न करना चाहिए। अधिक हँसना, बोलना, सोना, जागना, चलना, फिरना, ऐसी सवारी पर बैठना जिस पर शरीर को कष्ट हो, अधिक खाना, बार बार अंजन लगाना, थक जाय ऐसा काम करना, अयोग्य नाटक तथा खेल तमाशे देखना, प्रतिकूल हँसी खेल करना, ये सभी बातें गर्भवती के लिये वर्जित हैं। इनसे गर्भस्थ जीव में किसी प्रकार की खामी होने का डर रहता है।

गर्भवती स्त्री को मन की घबराहट और थकावट के बिना जितनी देर प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक हो सके ऐसी पुस्तकें या जीवन चरित्र पढ़ने चाहिएं जिन से शिक्षा मिले। सदा रुचिकारक और और गर्भ को पुष्ट करने वाला आहार करना चाहिए। धर्मध्यान, दया दान और सत्य वगैरह में रुचि रखनी चाहिए। शरीर पर स्वच्छ वस्त्र धारण करने चाहिए और चित्त में उत्तम विचार रखने

चाहिए। माता के रहन सहन, भोजन और विचारों का गर्भ पर पूरा असर होता है, इस लिए माता को इसप्रकार रहना चाहिए जिससे स्वस्थ, सुन्दर और उत्तम गुणों वाली सन्तान उत्पन्न हो।

सुमगला रानी ने अपनी सन्तान को श्रेष्ठ और सद्गुण सम्पन्न बनाने के लिए ऊपर कहे हुए नियमों का अच्छी तरह पालन किया। गर्भ का समय पूरा होने पर शुभ समय में सुमगला रानी के पुत्र और पुत्री का जोड़ा उत्पन्न हुआ।

सुनन्दा रानी ने भी ऊपर कहे हुए चौदह स्वप्नों में से चार महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूरा होने पर उसने भी पुत्र पुत्री के जोड़े को जन्म दिया। इसके बाद सुमगला रानी ने पुत्रों के उनचास जोड़ों को जन्म दिया। इस प्रकार आदि राजा ऋषभदेव के सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं।

सुमगला देवी ने जिस जोड़े को पहले पहल जन्म दिया उसमें पुत्र का नाम भरत और पुत्री का नाम ब्राह्मी रक्खा गया। सुनन्दा देवी के पुत्र का नाम बाहुबली और पुत्री का नाम सुन्दरी रक्खा गया।

पुत्र और पुत्री जब सीखने योग्य उमर के हुए तो उनके पिता ऋषभदेव ने अपने उत्तराधिकारी भरत को सभी प्रकार की शिल्प कला, ब्राह्मी को १८ प्रकार की लिपिविद्या और सुन्दरी को गणित विद्या सिखाई। भरत को पुरुष की ७२ कलाएं और ब्राह्मी को स्त्री की ६४ कलाएं सिखाईं।

ऋषभदेव बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में रहे। इसके बाद त्रेसठ लाख पूर्व तक राज्य किया। एक लाख पूर्व आयुष्य बाकी रहने पर अर्थात् तेरासी लाख पूर्व की आयु होने पर उन्होंने राज्य का कार्य भरत को सम्भला दिया। बाहुबली आदि निन्यानवें पुत्रों को भिन्न भिन्न देशों का राज्य दे दिया। एक वर्ष तक बरसी दान देकर दीक्षा अंगीकार की। एक वर्ष की कठोर तपस्या की

एक हजार वर्ष छद्मस्थ रहने के
बाद उनके चारों घाती कर्म नष्ट होगए और उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया अर्थात् वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होगए। संसार का कल्याण करने के लिए उन्होंने धर्मोपदेश देना शुरू किया। भगवान की पहली देशना में भरत महाराज के पाँच सौ पुत्र और सात सौ पौत्रों ने वैराग्य प्राप्त किया और भगवान् के पास दीक्षा अंगीकार कर ली।

विहार करते करते भगवान अयोध्या में पधारे। भरत चक्रवर्ती को यह जान कर बड़ा हर्ष हुआ। ब्राह्मी, सुन्दरी तथा दूसरे परिवार के साथ भरत चक्रवर्ती भगवान् को वन्दना करने के लिए गए। धर्मकथा सुन कर सब के चित्त में अपार आनन्द हुआ। भगवान ने कहा– विषय भोगों में फस कर अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। जो प्राणी अपना स्वरूप समझ कर उसी में लीन रहता है, सांसारिक विषयों से विरक्त होकर धर्म में उद्यम करता है वही कर्मबन्ध को काट कर मोक्ष रूपी अनन्त सुख को प्राप्त करता है। सांसारिक सुख क्षणिक तथा भविष्य में दुःख देने वाले हैं। मोक्ष का सुख सर्वोत्कृष्ट तथा अनन्त है इस लिए भव्य प्राणियों को मोक्ष प्राप्ति के लिये उद्यम करना चाहिए।

ब्राह्मी भगवान् के उपदेश को बड़े ध्यान से सुन रही थी। उस के हृदय में उपदेश गहरा असर कर रहा था। धीरे धीरे उसका मन संसार से विरक्त होकर संयम की ओर झुक रहा था।

सभा समाप्त होने पर ब्राह्मी भगवान् के पास आई और वन्दना करके बोली– भगवन्! आपका उपदेश सुन कर मेरा मन संसार से विमुख हो गया है। मुझे अब किसी वस्तु पर मोह नहीं रहा है। इस लिये दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। संसार के बन्धन मुझे बुरे लगते हैं। मैं उन्हें तोड़ डालना चाहती हूँ। भगवान् ने फरमाया– ब्राह्मी! इस कार्य के लिये भरत महाराज की आज्ञा लेना आवश्यक

है उनकी आज्ञा मिलने पर मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।

ब्राह्मी भरत के पास आई। उसके सामने अपनी दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। भरत ने साधुओं के कठिन मार्ग को बता कर ब्राह्मी को दीक्षा न लेने के लिये समझाना शुरू किया किन्तु ब्राह्मी अपने विचारों पर दृढ रही। भरत ने जब अच्छी तरह समझ लिया कि ब्राह्मी अपने निश्चय पर अटल है, उसे कोई भी विचलित नहीं कर सकता तो उसने प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी। भरत महाराज ब्राह्मी को साथ लेकर भगवान् के पास आए और कहने लगे-

भगवन्! मेरी बहिन ब्राह्मी दीक्षा अंगीकार करना चाहती है। इसने योग्य शिक्षा प्राप्त की है। संसार में रहते हुए भी विषय वासना से दूर रही है। सब प्रकार की सुख सामग्री होने पर भी इसका मन विषय भोगों में नहीं लगता। आपका उपदेश सुन कर इसका संसार से मोह हट गया है। यह जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से छुटकारा पाना चाहती है, इसी लिए इसने दीक्षा लेने का निश्चय किया है। दीक्षा का मार्ग कठोर है, यह बात इसे अच्छी तरह मालूम है। इसमें दुःख और कष्टों को सहन करने की पर्याप्त शक्ति है। संयम अंगीकार करने के बाद यह चारित्र का शुद्ध पालन करेगी, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। इसकी दीक्षा के लिए मेरी आज्ञा है। इसे दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिए। मैं आपको अपनी बहिन की भिक्षा देता हूँ, इसे स्वीकार करके मुझे कृतकृत्य कीजिए।

सब के सामने भरत महाराज के ऐसा कहने पर भगवान् ने ब्राह्मी को दीक्षा दे दी।

(२) सुन्दरी

ब्राह्मी का दीक्षित हुई जान कर सुन्दरी की इच्छा भी दीक्षा लेने की हुई किन्तु अन्तराय कर्म के उदय से भरत ने उसे आज्ञा [illegible]। आज्ञा न मिलने से वह संयम अंगीकार न कर सकी।

द्रव्य संयम न लेने पर भी उसका अन्तः करण भाव संयममय था।

थोड़े दिनों बाद भरत छः खण्ड साधने के लिए दिग्विजय पर चले गए। सुन्दरी ने गृहस्थ वेश में रहते हुए भी कठोर तप करने का निश्चय किया। उसी दिन से छः विगयों का त्याग करके प्रति दिन आयम्बिल करने लगी। छः खण्ड साधने में भरत को साठ हजार वर्ष लग गए। सुन्दरी तब तक बराबर आयम्बिल करती रही। उसका शरीर बिल्कुल सूख गया। केवल अस्थिपंजर रह गया।

भरत महाराज छः खण्ड साध कर वापिस लौटे। सुन्दरी के कृश शरीर को देख कर उन्हें निश्चय हो गया कि उसके हृदय में वैराग्य ने घर कर लिया है। वह अपने दीक्षा लेने के निश्चय पर अटल है। भरत चक्रवर्ती अपने मन में सोचने लगे–

बहिन सुन्दरी को धन्य है। आत्मकल्याण के लिए इसने घोर तप अंगीकार किया है। ऐसी सुलक्षणा देवियाँ अपने शरीर से मोक्ष रूपी परम पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है और भोगों की इच्छा वाले भोले प्राणी इसी शरीर के द्वारा दुर्गति के कर्म बाँधते हैं। यह शरीर तो रोग, चिन्ता, मल,मूत्र,श्लेष्म वगैरह गन्दे पदार्थों का घर है। अतर वगैरह लगा कर इसे सुगन्धित बनाने का प्रयत्न करना मूर्खता है। गन्दे शरीर के लिये गर्व करना अज्ञानता है। मेरी बहिन को धन्य है जो शरीर और धन दौलत की अनित्यता का खयाल करके मायावी सांसारिक भोगों में नहीं फँसी और नित्य और अखण्ड सुख देने वाले संयम को अंगीकार करना चाहती है। सुन्दरी पहले भी दीक्षा लेने को तैयार हुई थी, किन्तु मैंने उसके इस कार्य में बाधा देकर उसे रोक दिया था किन्तु सुन्दरी ने अपने इस तप द्वारा अब मुझे भी सावधान कर दिया है। वास्तव में संसार के क्षणिक सुखों में कोई सार नहीं है। यह सब जानते हुए भी आज मेरी अवस्था ऐसी नहीं है कि मैं दीक्षा

अङ्गीकार कर सकूँ। सुन्दरी सहर्ष दीक्षा ले सकती है। सुन्दरी को इस सुकार्य से रोकना न तो उचित है और न इसकी कोई आवश्यकता ही है। अब मैं इसके लिए उसे सहर्ष आज्ञा दे दूँगा।

जिस समय भरत ने यह निश्चय किया, संयोग वश उसी समय तरण तारण, जगदाधार, प्रथम तीर्थङ्कर श्री आदि जिनेश्वर विचरते हुए अयोध्या में पधारे और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहर गए।

वनपाल द्वारा भरत को यह समाचार मालूम होते ही वे स्वजन, परिजन और पुरजन सहित बड़े ठाठ बाठ के साथ प्रभु को वन्दना करने के लिए उस उद्यान में गए। वहाँ पहुँचते ही छत्र, चमर शस्त्र, मुकुट और जूते इन पाँच वस्तुओं को अलग रख कर उन्होंने जिनेश्वर भगवान् को भक्तिपूर्वक वन्दन किया। इसके बाद उन का धर्मोपदेश सुनने के लिए वे भी अन्यान्य श्रोताओं के साथ वहीं बैठ गए। भगवान उस समय बहुत ही मधुर शब्दों में धर्मो पदेश दे रहे थे, उसे सुन कर भरत को बहुत ही आनन्द हुआ।

धर्मोपदेश समाप्त होने पर भरत ने भगवान् से नम्रतापूर्वक कहा– हे जगत्पिता! मेरी बहिन सुन्दरी आज से साठ हजार वर्ष पहले दीक्षा लेने को तैयार हुई थी, किन्तु मैंने उसके इस कार्य में बाधा डाल कर उसे दीक्षा लेने से रोक दिया था। उस समय मुझे भले बुरे का ज्ञान न था। अब मुझे मालूम होता है कि मेरा वह कार्य बहुत ही अन्यायपूर्ण था। निःसन्देह अपने इस कार्य से मैं पाप का भागी हुआ हूँ। हे भगवन्! मुझे बतलाइए कि मैं अब किस तरह इस पाप से मुक्त हो सकता हूँ।

जिनेश्वर भगवान् से यह निवेदन करने के बाद भरत ने सुन्दरी को दीक्षा लेने की आज्ञा देते हुए उससे क्षमा प्रार्थना की। सुन्दरी ने उनका यह पश्चात्ताप देख कर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा– मुझे दीक्षा लेने में जो विलम्ब हुआ है उसमें कर्मों का ही दोष है,

आपका नहीं, इस लिए आप को खिन्न होने या पश्चाताप करने की आवश्यकता नहीं है। वर्षा ऋतु में मूसलधार वृष्टि होने पर भी यदि पपीहा प्यासा ही रह जाता है तो यह उसके कर्मों का ही दोष है, मेघ का नहीं। वसन्त ऋतु में सभी लताएं और वृक्ष नए पत्ते और फल फूलों से लद जाते हैं। यदि उस समय करीर वृक्ष पल्लवित नहीं होता तो यह उसी का दोष है, वसन्त का नहीं। सूर्योदय होने पर सभी प्राणी देखने लगते हैं। यदि उस समय उल्लू की आँखें बन्द हो जाती हैं तो यह उसी का दोष है, सूर्य का नहीं। मेरे अन्तराय कर्म ने ही मेरी दीक्षा में बाधा दी थी, आपने नहीं। मैं इसमें आपका कुछ भी दोष नहीं मानती।

इस प्रकार के अनेक वचन कह कर सुन्दरी ने भरत को शान्त किया। इसके बाद उसने उसी समय जिनेश्वर भगवान् के निकट दीक्षा ले ली। सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर सुन्दरी शुद्ध चारित्र का पालन करते हुए दुष्कर तप करने लगी।

जिस समय भरत ने छह खंड जीतने के लिए प्रस्थान किया उनके छोटे भाई बाहुबली तक्षशिला में राज्य कर रहे थे। बाहुबली को अपनी शक्ति पर विश्वास था। भरत के अधीन रहना उसे पसन्द न था। उसने सोचा– पूज्य पिताजी ने जिस प्रकार भरत को अयोध्या का राज्य दिया है, उसी प्रकार मुझे तक्षशिला का राज्य दिया है। जो राज्य मुझे पिताजी से प्राप्त हुआ है, उसे छीनने का अधिकार भरत को नहीं है। यह सोच कर उस ने भरत के अधीन रहने से इन्कार कर दिया। चक्रवर्ती बनने की अभिलाषा से भरत ने बाहुबली पर चढ़ाई कर दी। बाहुबली ने भी अपनी सेना के साथ आकर सामना किया। एक दूसरे के रक्त की प्यासी बन कर दोनों सेनाएं मैदान में आकर डट गईं। एक दूसरे पर टूटने के लिए आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं।

इतने में इन्द्र ने स्वर्ग से आकर कहा– तुम लोग व्यर्थ सेना का संहार क्यों कर रहे हो? अगर तुम्हें लडना ही है तो तुम दोनों पत्र युद्ध करो। दोनों भाइयों ने इन्द्र की बात को मान लिया। सेनाओं द्वारा लडने से होने वाले रक्तपात को व्यर्थ समझ कर पाँच प्रकार से मल्लयुद्ध करने का निश्चय किया। पहले के चार युद्धों में बाहुबली की जीत हुई, फिर मुष्टि युद्ध की बारी आई। बाहुबली की भुजाओं में बहुत बल था। उसे अपनी विजय पर विश्वास था। भरत के मुष्टिप्रहार को उसने समभाव से सह लिया। इसके बाद स्वयं प्रहार करने के लिए मुष्टि उठाई। उसी समय शक्रेन्द्र ने उसे पकड लिया और बाहुबली से कहा– बाहुबली! यह क्या कर रहे हो! बडे भाई पर हाथ चलाना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुच्छ राज्य के लिए क्रोध के वशीभूत होकर तुम कितना बडा अनर्थ कर रहे हो, यह मन में सोचो।

बाहुबली की मुष्टि उठी की उठी ही रह गई। उनके मन में पश्चात्ताप होने लगा। वे मन में सोचने लगे–'जिस राज्य के लिए इस प्रकार का अनर्थ करना पडे वह कभी सुखदायक नहीं हो सकता। इस लिए इसे छोड देना ही श्रेयस्कर है। वास्तविक सुख तो संयम से प्राप्त हो सकता है।' यह सोच कर उन्होंने संयम लेने का निश्चय कर लिया।

उठाई हुई मुष्टि को वापिस लेना अनुचित समझ कर बाहुबली उसी मुष्टि द्वारा अपने सिर का पंचमुष्टि लोच करके वन में चले गए। वहाँ जाकर ध्यान लगा लिया। अभी तक उनके हृदय से अभिमान दूर न हुआ था। मन में सोचा– मेरे छोटे भाइयों ने भगवान् के पास पहले से दीक्षा ले रक्खी है। ~~उन्हें केवलज्ञान भी हो गया है~~ यदि मैं अभी भगवान् के दर्शनार्थ गया तो उन्हें भी वन्दना करनी पडेगी। यह सोच कर वे भगवान् को वन्दना

करने नहीं गए।

वन में ध्यान लगा कर खड़े खड़े उन्हें एक वर्ष बीत गया। पक्षियों ने कन्धों पर घोंसले बना लिए। लताएं वृक्ष की तरह चारों ओर लिपट गईं। सिंह, व्याघ्र, हाथी तथा दूसरे जंगली जानवर गुर्राते हुए पास से निकल गए किन्तु वे अपने ध्यान से विचलित न हुए। काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि आभ्यन्तर शत्रु उनसे हार मान गए किन्तु अहंकार का कीड़ा उनके हृदय से न निकला। छोटे भाइयों को वन्दना न करने का अभिमान उन के मन में अभी जमा हुआ था। इसी अभिमान के कारण उन्हें केवलज्ञान नहीं हो रहा था।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्ञान द्वारा बाहुबली का यह हाल जाना। उन्होंने ब्राह्मी और सुन्दरी को बुला कर कहा—तुम्हारे भाई बाहुबली अभिमान रूपी हाथी पर चढ़े हुए हैं। हाथी पर चढे केवलज्ञान नहीं हो सकता। इस लिए जाओ और अपने भाई को अहंकार रूपी हाथी से नीचे उतारो।

भगवान् की आज्ञा को प्राप्त कर दोनों सतियाँ बाहुबली के पास आईं और कहने लगीं—

वीरा म्हारा गज थकी हेठा उतरो गज चढ्या केवल न होसी रे ॥टेर॥
बन्धव गज थकी उतरो, ब्राह्मी सुन्दरी इम भाषे रे।
ऋषभ जिनेश्वर मोकली, बाहुबल तुम पासे रे ॥
लोभ तजी संयम लियो, आयो बली अभिमानो रे।
लघु बन्धव वन्दू नहीं, काउसग्ग रह्यो शुभ ध्यानो रे ॥
बरस दिवस काउसग्ग रह्या, वलडिया लिपटानी रे।
पक्षी माला माडिया, शीत ताप सुखानी रे ॥

भाई बाहुबली! भगवान् ने अपना सन्देश सुनाने के लिए

हमें आपके पास भेजा है। आप हाथी पर चढ़े बैठे हैं। जरा नीचे उतरिए। आपने राज्य का लोभ छोड़ कर संयम तो धारण किया किन्तु छोटे भाइयों को वन्दना न करने का अभिमान आ गया। इसी कारण इतने दिन ध्यान में खड़े रहने पर भी आपको केवल ज्ञान नहीं हुआ। इस लम्बे और कठोर ध्यान से आपका शरीर कैसा कृश हो गया है। पक्षियों ने आपके कन्धों पर घोंसले बना लिए। डाँसों, मच्छरों और मक्खियों ने शरीर को चलनी बना दिया किन्तु आप ध्यान से विचलित न हुए। ऐसा उग्र तप करते हुए भी आपने अभिमान को आश्रय क्यों दे रक्खा है? यह अभिमान आपकी महान् करणी को सफल नहीं होने देता।

साध्वी वचन सुनी करी, चमक्या चित्त मझारो रे।
हय, गय, रथ, पायक छाडिया, पर चढ़ियो अहङ्कारो रे॥
वैरागे मन वालियो, मूक्यो निज अभिमानो रे।
चरण उठायो वन्दवा, पाया केवल ज्ञानो रे॥

अपनी बहिनों से सन्देश को सुन कर बाहुबली चौंक पड़े। मन ही मन कहने लगे क्या मैं सचमुच हाथी पर बैठा हूँ? हाथी, घोड़े, राज्य, परिजन आदि सब को छोड़ कर ही मैंने दीक्षा ली थी। फिर हाथी की सवारी कैसी? हाँ अब समझ में आया। मैं अहङ्कार रूपी हाथी पर बैठा हूँ। मेरी बहिनें ठीक कह रही हैं। मैं कितने भ्रम में था। छोटे और बड़े की कल्पना तो सांसारिक जीवों की है। आत्मा अनादि और अनन्त है। फिर उसमें छोटा कौन और बड़ा कौन? आत्मजगत् में वही बड़ा है जिसने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। संसारावस्था में छोटे होने पर भी मेरे भाइयों ने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। मेरी आत्मा में अब भी अहङ्कार भरा हुआ है, बहुत से दोष हैं। इस लिए वास्तव में वे ही मुझ से बड़े हैं। मुझे उन्हें नमस्कार करना चाहिए।

यह सोच कर बाहुबली ने भगवान् ऋषभदेव के पास जाने के लिए एक पैर आगे रक्खा। इतने में उनके चार घाती कर्म नष्ट हो गए। उन्हें केवलज्ञान हो गया। देवों ने पुष्पवृष्टि की। चारों ओर जय जयकार होने लगा।

दोनों बहिनें अपने स्थान पर लौट गईं। पृथ्वी पर घूम घूम कर उन्होंने अनेक भव्य प्राणियों को प्रतिबोध दिया। अनेक भूले भटके जीवों को आत्मकल्याण का मार्ग बताया। कठोर तप और शुभ ध्यान द्वारा अपने कर्मों को नष्ट करने का भी प्रयत्न किया। इस प्रकार आत्मा तथा दूसरों के कल्याण की साधना करते करते उनके घाती कर्म नष्ट हो गए। केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर आयुष्य पूर्ण होने पर दोनों ने मोक्ष रूपी परमपद को प्राप्त किया। इन दोनों महासतियों की सदा वन्दन हो।

(३) चन्दनबाला (वसुमती)

विहार प्रान्त में जो स्थान आज कल चम्पारन के नाम से प्रसिद्ध है, प्राचीन समय में वहाँ चम्पापुरी नाम की विशाल नगरी थी। वह अङ्गदेश की राजधानी थी। नगरी व्यापार का केन्द्र, धन धान्य आदि से समृद्ध तथा सब प्रकार से रमणीय थी।

वहाँ दधिवाहन नाम का राजा राज्य करता था। वह न्याय, नीति तथा प्रजा पालन आदि गुणों का भण्डार था। प्रजा पर पुत्र के समान प्रेम रखता था और प्रजा भी उसे पिता मानती थी। ऐसे राजा को प्राप्त करके प्रजा अपने को धन्य समझती थी।

दधिवाहन राजा की धारिणी नाम की रानी थी। पतिसेवा, धर्म पर श्रद्धा, उदारता, हृदय की कोमलता आदि जितने गुण राजरानी में होने चाहिए वे सब धारिणी में विद्यमान थे। राजा तथा रानी दोनों धर्मपरायण थे। दोनों में परस्पर अगाध प्रेम था। दोनों विलासिता से दूर थे। राज्य को भोग्य वस्तु न समझ

कर वे उसे कर्तव्य भार मानते थे। परस्पर सहयोग से प्रजा का पालन करते हुए दोनों अपने जीवन को सुखपूर्वक बिता रहे थे।

कुछ दिनों बाद धारिणी ने एक महान् सुन्दरी कन्या को जन्म दिया। उज्ज्वल रूप तथा शुभ लक्षणों वाली उस पुत्री के जन्म से माता पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। बड़े समारोह के साथ उसका जन्मोत्सव मनाया। माता पिता ने कन्या का नाम वसुमती रक्खा।

उसे देख कर धारिणी सोचा करती थी कि वसुमती को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे यह अपने कल्याण के साथ मानव समाज का भी हित कर सके। बचपन से ही उसे नम्रता, सरलता आदि गुणों की शिक्षा मिलने लगी। उसमें धर्म तथा न्याय के दृढ संस्कार जमाए जाने लगे। जैसे जैसे बड़ी हुई उसे दूसरी बातें भी सिखाई जाने लगीं। संगीत, पढ़ना, लिखना, सीना, पिरोना, भोजन बनाना, घर संवारना आदि स्त्री की सभी कलाओं में वह प्रवीण हो गई। उसकी बोली, उसका स्वभाव और उसका रहन सहन सभी को प्रिय लगता था। उसे देख कर सभी प्रसन्न हो उठते थे। सखियाँ उसे देवी मानती थीं। धारिणी उसे देख कर फूली न समाती थी।

धीरे धीरे वसुमती ने किशोरावस्था में प्रवेश किया। उसके शरीर पर यौवन के चिह्न प्रकट होने लगे। गुण और सौन्दर्य एक दूसरे की होड करने लगे। सखियाँ वसुमती के विवाह की बातें करने लगीं किन्तु उसके हृदय में अब भी वही कुमार-सुलभ सरलता तथा पवित्रता थी। वासना उसे छूई तक न थी। उसके मुख पर वही बचपन का भोलापन था। चेहरे पर निर्दोष हँसी थी। अपने गुणों से दूसरों को मोहित कर लेने पर भी उसका मन अभिमान से सर्वथा शून्य था, जैसे अपने उन गुणों से वह स्वयं अपरिचित थी।

राजा दधिवाहन को वसुमती के लिए योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई किन्तु धारिणी वसुमती से जगत्कल्याण की आशा

रखती थी। विवाह बन्धन में पड़ जाने पर यह आशा पूरी होनी कठिन थी। इस लिए वह चाहती थी कि वसुमती आजन्म पूर्ण ब्रह्मचारिणी रह कर महिला समाज के सामने एक महान् आदर्श उपस्थित करे। इसी लिए वसुमती को शिक्षा भी इसी प्रकार की दी गई थी। उसके हृदय में भी यह भावना जम गई थी कि मैं गार्हस्थ्य के झंझटों में न पड़ कर संसार के सामने ब्रह्मचर्य, त्याग और सेवा का महान् आदर्श रक्खूं। धारिणी वसुमती के इन विचारों से परिचित थी इस लिए राजा द्वारा विवाह की बात छेडी जाने पर धारिणी ने कहा– वसुमती विवाह न करेगी।

एक दिन राजा और रानी अपने महल में बैठे वसुमती के विवाह की बात सोच रहे थे। उसी समय अपने शयनागार में बैठी हुई वसुमती के मस्तिष्क में और ही तरंगें उठ रही थीं। वह विचार रही थी– लोग स्त्रियों को अबला क्यों कहते हैं? क्या उनमें वही अनन्त आत्मशक्ति नहीं है जो पुरुषों में है? स्त्रियों ने भी अपने अज्ञान से अपने को अबला समझ लिया है। वे अपने को पराधीन मानती हैं। स्त्रियों की इस अज्ञानता को मैं दूर करूँगी। उन्हें बताऊँगी कि स्त्रियों में भी वही अनन्त शक्ति है जो पुरुषों में है। वे भी आत्मबल द्वारा मोक्ष की आराधना कर सकती हैं। फिर वे अबला क्यों हैं। प्रभो! मुझे वह शक्ति दो जिससे मैं अपनी बहिनों का उद्धार कर सकूँ।

इस प्रकार विचार करते हुए वसुमती को नींद आ गई। रात के चौथे पहर में उसने एक स्वप्न देखा– चम्पापुरी घोर कष्ट में पड़ी हुई है और मेरे द्वारा उसका उद्धार हुआ है। स्वप्न देखते ही वह जग गई और उसके फल पर विचार करने लगी। बहुत सोचने पर भी उसकी समझ में कोई बात न आई। इसी विचार में वह शय्या से उठ [illegible] अशोकवाटिका में चली गई

और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगी।

प्रातःकाल होते ही वसुमती की सखियाँ उसे जगाने के लिए महल में आईं किन्तु वसुमती वहाँ न मिली। ढूढती ढूढती वे अशोकवाटिका में चली आईं। वहाँ उसे चिन्तित अवस्था में बैठी हुई देख कर आपस में कहने लगीं– वसुमती को अब अकेली रहना अच्छा नहीं लगता। वह किसी योग्य साथी की चिन्ता कर रही है। वे सब मिल कर वसुमती से विवाह सम्बन्धी तरह तरह के मजाक करने लगीं।

वसुमती को उनकी अज्ञानता पर दया आ गई। वह सोचने लगी– स्त्री समाज का हृदय कितना विकृत हो गया है। उसे इतना भी ज्ञान नहीं है कि विवाह के सिवाय भी चिन्ता का कोई कारण हो सकता है। उसने सखियों को फटकारते हुए कहा– जन्म से एक साथ रहने पर भी तुम मुझे न समझ सकीं। मुझे भी अपने समान तुच्छ विचारों वाली समझ लिया है। विवाह न करने का तो मैं निश्चय कर चुकी हूँ फिर उससे सम्बन्ध रखने वाली कोई चिन्ता मेरे मन में आ ही कैसे सकती है?

मेरे विचार में प्रत्येक स्त्री पुरुष पर तीन व्यक्तियों के ऋण हैं– माता, पिता और धर्माचार्य। सासू, श्वसुर, पति आदि का ऋण भी स्त्री पर होता है किन्तु उसे करना या न करना अपने हाथ की बात है। पहले तीन ऋण तो प्रत्येक प्राणी पर होते हैं। उन्हें चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। मेरी माता ने मुझे शिक्षा दी है कि धर्म और समाज की सेवा द्वारा इन ऋणों को अवश्य चुकाना। मनुष्य जन्म बार बार नहीं मिलता। विषयभोग में उसे गँवा देना मूर्खता है। मानव जीवन का उद्देश्य परमार्थ साधन ही है। जो कन्या पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकती उसी के लिए विवाह का विधान है। जो ब्रह्मचर्य का पालन

करने में समर्थ है उसे विवाह की कोई आवश्यकता नहीं है। माता पिता और धर्म की सेवा करके मैं ऊपर लिखे तीनों ऋणों से मुक्त होना चाहती हूँ।

वसुमती की ये बातें सखियों को विचित्र सी मालूम पड़ीं। उन्होंने सोचा ये कोरी उपदेश की बातें हैं। दिल की बातें कुछ और हैं। उनके फिर पूछने पर वसुमती ने स्वप्न का सारा हाल सुना दिया। सखियाँ स्वप्न का वृत्तान्त महारानी को सुनाने चली गईं। वसुमती फिर विचार में पड़ गई। मन में कहने लगी- इस स्वप्न ने मेरे द्वारा एक महान् कार्य के होने की सूचना दी है। मुझे अभी से उसके लिए तैयार रहना चाहिए। उसके लिए शक्ति का सञ्चय करना चाहिए।

सखियों ने स्वप्न का हाल धारिणी को सुनाया। उसने कहा- अगर मेरी पुत्री ऐसे महान् कार्य को सम्पन्न कर सके तो मेरे लिए इससे बढ़ कर क्या सौभाग्य की बात होगी। वसुमती के इस स्वप्न के कारण उसके विवाह की बात अनिश्चित काल के लिए टाल दी गई। वसुमती जैसा चाहती थी वही हो गया।

चम्पापुरी के राज्य की सीमा पर कौशाम्बी नाम का दूसरा राज्य था। कौशाम्बी भी धन धान्य से समृद्ध तथा व्यापार के लिए प्रसिद्ध नगरी थी। वहाँ शतानीक नाम का राजा राज्य करता था। दधिवाहन की रानी पद्मावती और शतानीक की रानी मृगावती दोनों सगी बहनें थीं। इस लिए वे दोनों राजा आपस में साढू थे।

सम्बन्धी होने पर भी दोनों राजाओं के स्वभाव में महान् अन्तर था। दधिवाहन सन्तोषी, शान्तिप्रिय और धार्मिक था, उसमें राज्यलिप्सा न थी। दूसरे को कष्ट में डाल कर ऐश्वर्य बढ़ाना उसकी दृष्टि में घोर पाप था। ऐश्वर्य पाकर धनसत्ता द्वारा दूसरों पर आतङ्क जमाना उसे पसन्द न था। सभी को सुख पहुँचा कर

वह प्राणिमात्र से मित्रता चाहता था, उन पर आधिपत्य नहीं।

शतानीक के विचार इसके सर्वथा विपरीत थे। वह दिन रात राज्य को बढ़ाने की चिन्ता में लगा रहता था। न्याय और धर्म का गला घोट कर भी वह राज्य और वैभव बढ़ाना चाहता था। जनता पर आतङ्क जमा कर शासन करना अपना धर्म समझता था। अपनी राज्यलिप्सा को पूर्ण करने के लिए निर्दोष प्राणियों को कुचलना, उनके खून से होली खेलना खेल समझता था।

शतानीक की दृष्टि में समृद्ध चम्पापुरी सदा खटका करती थी। न्याय पूर्वक राज्य करने से फैलने वाली दधिवाहन की कीर्ति भी उसके लिए असह्य हो उठी थी। ईर्ष्यालु जन गुणों द्वारा अपने प्रतिस्पर्द्धी को नहीं जीत सकता तो वह उसे दूसरे उपायों से नुकसान पहुँचाने की चेष्टा करता है किन्तु उससे उसकी अपकीर्ति ही बढ़ती है, वह अपने स्वार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता।

दधिवाहन या चम्पापुरी पर किसी प्रकार का दोष मढ़ कर उस पर चढ़ाई कर देने की चालें शतानीक अपने मन्त्रिमण्डल के साथ सोचा करता था। अपनी बुरी कामना को पूर्ण करने के लिए दूसरे पर किसी प्रकार का अपवाद लगा देना, उसे अपराधी बता कर इच्छित वस्तु पर अधिकार जमा लेना, उसे नीचा दिखाने के लिए कोई झूठा दोष मढ़ देना तथा मनमानी करते हुए भी स्वयं निर्दोष बने रहना शतानीक की दृष्टि में राजनीति थी।

चम्पापुरी का राज्य हड़पने के लिए शतानीक कोई बहाना ढूँढ रहा था किन्तु दधिवाहन के हृदय में युद्ध करने या किसी का राज्य छीनने की बिल्कुल इच्छा न थी। आस पास के सभी राजाओं से उसकी मित्रतापूर्ण सन्धि थी। इस लिए न उसे किसी शत्रु का डर था और न उससे किसी दूसरे को भय था। इसी कारण से उसने राज्य के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए थोड़ी सी सेना रख

छोड़ी थी। युद्ध या किसी के आक्रमण को रोकने के लिए सैनिक शक्ति को बढ़ाना उसकी दृष्टि में व्यर्थ था, इसी से शतानीक का उत्साह बहुत बढ़ गया था। दधिवाहन की मुट्ठी भर सेना को हरा कर चम्पापुरी पर अधिकार जमा लेने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई न जान पड़ती थी।

शतानीक ने किसी मामूली सी बात को लेकर चम्पापुरी पर चढ़ाई कर दी। दधिवाहन को इस बात का स्वप्न में भी खयाल न था कि कोई राजा उस पर भी चढ़ाई कर सकता है। युद्ध की घोषणा करती हुई शतानीक की सेना चम्पा के राज्य में घुस गई और प्रजा को सताने लगी। सीमा की रक्षा करने वाले दधिवाहन के थोड़े से सिपाही उसका सामना न कर सके। वे दौड़े हुए दधिवाहन के पास आए और चढ़ाई का समाचार सुनाया। शतानीक की सेना द्वारा सताई गई प्रजा ने भी राजा दधिवाहन के पास पुकार की।

दधिवाहन इस अप्रत्याशित समाचार को सुन कर विचार में पड़ गया। उसने अपने मन्त्रियों की सभा बुलाई और कहा-- मित्रता-पूर्ण सन्धि होने पर भी शतानीक ने चम्पा पर चढ़ाई कर दी है। हमारे खयाल में अभी कोई भी ऐसा कारण उपस्थित नहीं हुआ जिससे शतानीक के आक्रमण को उचित कहा जा सके। अब यह विचार करना है कि शतानीक ने चढ़ाई क्यों की और इस समय हमें क्या करना चाहिए?

प्रधान मन्त्री-- इस समय ऐसा कोई भी कारण उपस्थित नहीं हुआ जिससे शतानीक को चढ़ाई करनी पड़े। शतानीक चम्पा-पुरी को हड़पने की दुर्भावना से प्रेरित होकर आया है। उसे किसी दूसरे कारण की आवश्यकता नहीं है। ऐसा व्यक्ति साधारण सी बात को युद्ध का कारण बना सकता है। चम्पापुरी पर चढ़ाई करने के लिए शतानीक ऐसी चालें बहुत दिनों से चल रहा था।

इसके लिए मैंने आप से पहले भी निवेदन किया था। हम लोगों ने सदा शान्ति के लिए प्रयत्न किया किन्तु वह हमारी इस इच्छा को कायरता समझता रहा। अब एक ही उपाय है कि शत्रु का सामना करके उसे बता दिया जाय कि चम्पा पर चढ़ाई कोई हँसी खेल नहीं है। जब तक शत्रु को पराजित न किया जाएगा वह मानने का नहीं। शान्ति की बातों से उसका उत्साह दुगुना बढ़ता है। दूसरे मन्त्रियों ने भी युद्ध करने की ही सलाह दी।

मन्त्रियों की बात सुन कर राजा कहने लगा– वर्तमान राजनीति के अनुसार तो हमें युद्ध ही करना चाहिए, किन्तु इसके भयङ्कर परिणाम पर भी विचार करना आवश्यक है। शतानीक ने राज्य के लोभ में पड़ कर आक्रमण किया है। लोभी न्याय और अन्याय को भूल जाता है। अगर हम उसका सामना करें तो व्यर्थ ही लाखों मनुष्य मारे जाएंगे। अगर चम्पा का राज्य छोड़ देने पर यह नरहत्या बच जाय तो क्यों इस भयङ्कर पाप को किया जाय?

मन्त्री– महाराज! शत्रु द्वारा आक्रमण हो जाने पर धर्म की बातें करना कायरता है। ऐसे मौके पर क्षत्रिय का यह कर्तव्य है कि शत्रु का सामना करे।

राजा– क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना नहीं है। उसका धर्म न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करना है। अन्याय और अधर्म को हटाने के लिए जो अपने प्राणों को भी त्याग सकता है वही असली क्षत्रिय है। क्षात्रत्व हिंसा में नहीं है किन्तु अहिंसा में है। यदि शतानीक को न्याय और नीति के लिए समझाया जाय तो सम्भव है, वह मान जाय। इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए मैं स्वयं शतानीक के पास जाऊँगा।

मन्त्रियों के विरोध करने पर भी दधिवाहन ने शतानीक के पास अकेले जाने का निश्चय कर लिया।

शतानीक में चम्पा का राज्य लेने की भावना दृढ़ हो चुकी थी और दधिवाहन में यथासम्भव हिंसा न होने देने की।

राजकर्मचारी तथा प्रजाजन द्वारा की गई प्रार्थना पर बिना ध्यान दिए दधिवाहन राजा घोड़े पर सवार होकर शतानीक के पास जा पहुँचे। उन्हें अकेला आया देख कर शतानीक बहुत प्रसन्न हुआ। उसका अभिमान और बढ़ गया। सोचने लगा– दधिवाहन डर कर मेरी शरण में चला आया है।

शतानीक के पास पहुँच कर दधिवाहन ने कहा– महाराज! हम दोनों में मित्रतापूर्ण सन्धि है। आप मेरे सम्बन्धी भी हैं। आज तक हम दोनों का पारस्परिक व्यवहार प्रेमपूर्ण रहा है। मेरे खयाल में हमारी तरफ से ऐसी कोई बात नहीं हुई जिससे आपको किसी प्रकार की हानि हुई हो फिर भी आपने अचानक चम्पापुरी पर आक्रमण कर दिया। मेरा खयाल है, आप भी प्रजा में शान्ति रखना पसन्द करते हैं। नरहत्या आपको भी पसन्द नहीं है। आप इस बात को समझते हैं कि क्षत्रिय का धर्म किसी को कष्ट देना नहीं किन्तु कष्ट देने वाले चोर और डाकुओं से प्रजा की रक्षा करना है। यदि राजा स्वयं कष्ट देने लगे तो उसे राजा नहीं लुटेरा कहा जाएगा।

क्या आप कोई ऐसा कारण बता सकते हैं जिससे आप के इस आक्रमण को न्यायपूर्ण कहा जा सके ?

शतानीक– जब शत्रु ने आक्रमण कर दिया हो उस समय न्याय-अन्याय की बात करना कायरता है। अपनी कायरता को धर्म की आड़ में छिपाना वीर पुरुषों का काम नहीं है। इस समय न्याय और धर्म का बहाना निरा ढोंग है। युद्ध करना, नए नए देश जीतना, अपना राज्य बढ़ाना, क्षत्रियों के लिए यही न्याय है।

दधिवाहन– युद्ध से होने वाले भयङ्कर परिणाम पर आप

विचार कीजिए। लाखों निर्दोष मनुष्य आपस में कट कर समाप्त हो जाते हैं। हजारों बहनें विधवा हो जाती हैं। देश नवयुवकों से खाली हो जाता है। चारों ओर बालक, वृद्ध और अबलाओं की करुण पुकार रह जाती है। एक व्यक्ति की लिप्सा का परिणाम यह महान् संहार कभी न्याय नहीं कहा जा सकता। हिंसा राक्षसी वृत्ति है। उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। आपका जरासा सन्तोष इस भीषण हत्याकाण्ड को बचा सकता है।

शतानीक— मुझे सन्तोष की आवश्यकता नहीं है। राजनीति राजा को सन्तोषी होने का निषेध करती है। पृथ्वी पर वे ही शासन करते हैं जो वीर हैं, शक्तिशाली हैं। क्षत्रियों के लिए तलवार ही न्याय है और अपनी राज्यलिप्सा रूपी अग्नि को सदा प्रज्वलित रखना ही उनका धर्म है।

दधिवाहन को निश्चय हो गया कि शतानीक लोभ में पड़ कर अपनी बुद्धि को खो बैठा है। इस प्रकार की बातें करके वह मुझे युद्ध के लिए उत्तेजित करना चाहता है लेकिन इसके कहने पर क्रोध में आकर विवेक खो बैठना बुद्धिमत्ता नहीं है। गम्भीरतापूर्वक विचार करके मुझे किसी प्रकार युद्ध को रोकना चाहिए।

दधिवाहन को विचार में पड़ा देख कर शतानीक ने कहा— आप सोच क्या कर रहे हैं? यदि शक्ति हो तो हमारा सामना कीजिए। यदि युद्ध से डर लगता है तो आत्मसमर्पण करके हमारी अधीनता स्वीकार कर लीजिए। यदि दोनों बातें पसन्द नहीं हैं तो यहाँ क्यों आए? सीधा जंगल में भाग जाना चाहिए था। इस प्रकार न्याय की दुहाई देकर अपनी कायरता को छिपाने से क्या लाभ?

दधिवाहन ने निश्चय कर लिया कि जब तक शतानीक का लोभ शान्त न किया जाय, युद्ध नहीं टल सकता। इसके लिए यही उचित है कि मैं राज्य छोड़ कर वन में चला जाऊँ। यदि

इसकी अधीनता स्वीकार ... को
भयङ्कर होगा। इससे ... सब
पड़ेगा और इस तरह ... गया
जिस प्रजा की रक्षा के लिए ... फेर
अत्याचार करना पड़ेगा। ... बचे

वन जाने का निश्चय करके ...
ने कहा— यदि आपका ... नीक
आप सहर्ष कीजिए। ... गा।
किया अब आप कीजिए। ... य
पुत्र नहीं है, राज्य का भार ... या
मुक्त कर दिया। ... के
दधिवाहन घोड़े पर बैठ कर ...

अपने राज्य की सीमा ... को
पास खबर भेज दी— ... स
कर अपनी सेना तथा प्रजा ... ल
चम्पा की रक्षा मैंने की थी। ... पी
भार लेना चाहता है इस लिए ... यहाँ

प्रधान मन्त्री को राजा की ... और
मन्त्रियों की एक सभा करके ... हीं तो
राज्य इस प्रकार सरलता पूर्वक ...
नहीं है। युद्ध न करने पर ... इस समय
युद्ध की घोषणा कर दी। ... उतरने पर

दधिवाहन के चले जाने ... में अपनी
रहा। बिना युद्ध के प्राप्त हुई ... ा दीनता
चम्पानगरी में तीन दिन तक ... ी के करे
दे दी।

चम्पा नगरी के पास पहुँचने पर उसे मालूम पड़ा कि दधिवाहन की सेना सामना करने के लिए तैयार खड़ी है। शतानीक ने भी अपनी सेना को युद्ध की आज्ञा दे दी। दोनों सेनाओं में घमासान संग्राम छिड़ गया। दधिवाहन की सेना बड़ी वीरता से लड़ी किन्तु शतानीक की सेना के सामने मुट्ठी भर बिना नायक की फौज कितनी देर ठहर सकती थी। शतानीक की सेना से परास्त हो कर उसे रणभूमि छोड़ कर भागना पड़ा।

चम्पानगरी के दरवाजे तोड़ दिए गए। शतानीक की सेना लूट मचाने लगी। सारे नगर में हाहाकार मच गया। सैनिकों का विरोध करना साक्षात् मृत्यु थी। पाशविकता का नग्न ताण्डव होने लगा किन्तु उसे देख कर शतानीक प्रसन्न हो रहा था। राक्षसी वृत्ति अपना भीषण रूप धारण करके उसके हृदय में बैठ चुकी थी।

चम्पापुरी में एक ओर तो यह नृशंस काण्ड हो रहा था दूसरी ओर महल में बैठी हुई महारानी धारिणी वसुमती को उपदेश दे रही थी। दधिवाहन का राज्य छोड़ कर चले जाना, अपनी सेना का हार जाना, शतानीक के सैनिकों का नगरी में प्रवेश तथा लूट मार आदि सभी घटनाएं धारिणी को मालूम हो चुकी थीं किन्तु उसने धैर्य नहीं छोड़ा। सेवकों ने आकर खबर दी कि राजमहल भी सिपाहियों द्वारा लूटा जाने वाला है, किन्तु धारिणी ने फिर भी धैर्य नहीं छोड़ा। वह वसुमती को कहने लगी—बेटी! तेरे स्वप्न का एक भाग तो सत्य हो रहा है। चम्पापुरी दुःखसागर में डूबी हुई है। तेरे पिता वन में चले गए हैं। यह समय हमारी परीक्षा का है। इस समय घबराना ठीक नहीं है। धर्म यह सिखाता है कि भयङ्कर विपत्ति को भी अपने कर्मों का फल समझ कर धैर्य रखना चाहिए। ऐसे समय में धैर्य त्याग देने वाला कभी जीवन में सफल नहीं हो सकता। अब स्वप्न का दूसरा भाग सत्य करने का उत्तर-

दायित्व तुम पर आ पड़ा है। तेरे पिता किसी ऊँची भावना को लेकर ही वन में गए होंगे। अपने धर्म की रक्षा करना हमारा सब से पहला कर्तव्य है। नष्ट हुई चम्पापुरी फिर बस सकती है, गया हुआ जीवन फिर मिल सकता है किन्तु गया हुआ धर्म फिर मिलना कठिन है। धर्म में दृढ़ रहने पर ही तुम अपने स्वप्न के बचे हुए भाग को सत्य कर सकोगी।

धारिणी वसुमती को यह उपदेश दे रही थी कि इतने में शतानीक की सेना का एक रथी (रथ से लड़ने वाला योद्धा) वहाँ आ पहुँचा। वह राजमहल को लूटने के लिए वहाँ आया था। चारों ओर विविध प्रकार के रत्नों को देख कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। पहरेदार तथा नौकर चाकर डर के मारे पहले ही भाग चुके थे, इसलिए रानी के खास महल तक पहुँचने में उसे कोई कठिनाई न हुई।

धारिणी को देख कर रथी चकित रह गया। उसके सौन्दर्य को देख कर वह रत्नों को भूल गया। उसे मालूम पड़ने लगा, जैसे इस जीवित स्त्रीरत्न के सामने निर्जीव रत्न कङ्कर पत्थर ही हैं। उसे बल पूर्वक प्राप्त करने का निश्चय करके रथी तलवार निकाल कर धारिणी के पास जाकर कहने लगा– उठो और मेरे साथ चलो। अब यहाँ तुम्हारा कुछ नहीं है। चम्पापुरी पर शतानीक का राज्य है और यहाँ की सारी सम्पत्ति सैनिकों की है। मेरे साथ चलो, नहीं तो यह तलवार तुम्हारा भी खून पीने में न हिचकेगी।

धारिणी ने सोचा–यह सैनिक विचारहीन हो रहा है। इस समय इसे समझाना व्यर्थ है। सम्भव है, युद्ध का नशा उतरने पर समझाने से यह मान जाय। तब तक वसुमती को भी मैं अपनी बात पूरी कह सकूँगी। यह सोच कर बिना किसी भय या दीनता के अपनी पुत्री को लेकर वह रथी के साथ हो गई और रथी के कहे अनुसार निःसङ्कोच रथ में जा कर बैठ गई।

रथी अपने मन में भावी सुखों की कल्पना करता हुआ रथ के चारों ओर परदा डाल कर उसे हाँकने लगा। नगरी की ओर जाना उचित न समझ उसने सीधे वन की ओर प्रस्थान किया। रथी अपनी हवाई उमङ्गों तथा भविष्य की सुखद कल्पनाओं में डूबा हुआ रथ को हाँके चला जा रहा था और अन्दर बैठी हुई धारिणी वसुमती को उपदेश दे रही थी– बेटी! यह समय घबराने का नहीं है। तुम्हारे पिता तो हमें छोड़ कर चले ही गए। यह भी पता नहीं है कि मुझे भी तेरा साथ कब छोड़ देना पड़े, इसलिए तुम्हें वीरता पूर्वक प्रत्येक विपत्ति का सामना करने के लिए अपने ही पैरों पर खड़ी होना चाहिए। वीर अपनी रक्षा स्वयं करता है किसी दूसरे की सहायता नहीं चाहता। अपने स्वप्न के दूसरे भाग को भी तुम्हें अकेली ही पूरा करना पड़ेगा। चम्पापुरी में लाखों मनुष्यों का रक्त बहा है। निर्दोष प्रजा को लूटा गया है। चम्पापुरी पर लगे हुए इस कलङ्क को मिटाना ही उसका उद्धार है। उसका यह कलङ्क फिर युद्ध करने से न मिटेगा। युद्ध से तो वह दुगुना हो जायगा। इसलिए तुम्हें अहिंसात्मक संग्राम की तैयारी करनी चाहिए। इस संग्राम में विजय ही विजय है, कोई पराजित नहीं होता। इसमें दोनों शत्रु मिल कर एक हो जाते हैं, फिर पराजय का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

हिंसात्मक युद्ध की अपेक्षा अहिंसात्मक युद्ध में अधिक वीरता चाहिए। इसके लिए लड़ने वाले में नीचे लिखी बातें बहुत अधिक मात्रा में चाहिए। इस युद्ध में सब से पहले अपार धैर्य की आवश्यकता है। भयङ्कर से भयङ्कर कष्ट आने पर भी धैर्य छोड़ देने वाला अहिंसात्मक युद्ध नहीं कर सकता। सहिष्णुता के साथ भावना का पवित्र रहना, किसी से वैर न रखना, भय रहित होना तथा सतत परिश्रम करते जाना भी नितान्त आवश्यक है। अहिंसात्मक युद्ध

में दूसरे का रक्त नहीं बहाया जाता किन्तु अपने रक्त को पानी समझ कर उसके द्वारा द्वेष रूपी कलङ्क धोया जाता है। इसलिए धर्म और न्याय की रक्षा के लिए तथा चम्पापुरी का कलङ्क मिटाने के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण दे देने के लिए भी तुम्हें तैयार रहना चाहिए।

रथ को लेकर वह योद्धा घोर वन में पहुँच गया। जहाँ मनुष्यों का आना जाना नहीं था ऐसे दुर्गम तथा एकान्त प्रदेश में पहुँच कर रथ को रोक दिया। रथ के परदे उठाए और धारिणी को नीचे उतरने के लिए कहा। धारिणी और वसुमती दोनों उतर कर एक वृक्ष की छाया में बैठ गईं।

रथी ने अपनी बुरी अभिलाषा धारिणी के सामने रक्खी। उसे विविध प्रलोभन दिए, जन्म भर उसका दास बने रहने की प्रतिज्ञा की, किन्तु सती शिरोमणि धारिणी अपने सतीत्व से डिगने वाली न थी।

उसने रथी से कहा— भाई! अपने वेश और आकृति से तुम वीर मालूम पड़ते हो किन्तु तुम्हारे मुँह से निकलने वाली बातें इसके विपरीत हैं। विवाह के समय तुमने अपनी स्त्री से प्रतिज्ञा की थी कि उसके सिवाय संसार की सभी स्त्रियों को माँ या बहिन समझोगे। उस प्रतिज्ञा को तोड़ कर आज वैसी ही प्रतिज्ञा तुम मेरे सामने कर रहे हो। जब तुम एक बार प्रतिज्ञा तोड़ चुके हो तो तुम्हारी दूसरी प्रतिज्ञाओं पर कौन विश्वास कर सकता है? क्या वीर पुरुष को इस प्रकार प्रतिज्ञा तोड़ना शोभा देता है?

विवाह में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार मैं तुम्हारी बहिन हूँ। बहिन के साथ ऐसी बातें करते हुए क्या तुम अच्छे लगते हो?

मैंने अपने विवाह के समय राजा दधिवाहन के सिवाय सभी पुरुषों को पिता या भाई मानने की प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञा के अनुसार तुम मेरे भाई हो। तुम अपनी प्रतिज्ञा तोड़ डालो तो भी

मैं तो तुम्हें अपना भाई ही समझूंगी। मैं क्षत्राणी हूँ, अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड सकती।

यह कह कर धारिणी ने रथी के सब प्रलोभन ठुकरा दिए। रथी का मस्तक एक बार तो लज्जा से झुक गया किन्तु उसे काम ने अन्धा बना रक्खा था। धर्म अधर्म, पाप पुण्य या न्याय अन्याय की बातों का उस पर कोई असर न पडा।

रथी ने दधिवाहन को कायर, डरपोक और भगोड़ बता कर रानी पर अपनी वीरता का सिक्का जमाने की चेष्टा की किन्तु वह भी बेकार गई। इन सब उपायों के व्यर्थ हो जाने पर उसने बलप्रयोग करने का निश्चय किया। धारिणी रथी के भावों को समझ गई। रथी बलपूर्वक अपनी वासना पूर्ण करने के लिए उठा ही था कि धारिणी ने अपनी जीभ पकड कर बाहर खींच ली। उसके मुँह से खून की धारा बहने लगी। प्राणपखेरू उड गए। निर्जीव शरीर पृथ्वी पर गिर पडा। अपने बलिदान द्वारा धारिणी ने वसुमती तथा समस्त महिलाजगत् के सामने तो महान् आदर्श रक्खा ही, साथ में सारथी के जीवन को भी एकदम पलट दिया। कामान्ध होने के कारण जिस पर उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पडा उसे आत्मोत्सर्ग द्वारा सत्य का मार्ग सुझा दिया। क्रूरता और कामलिप्सा को छोड कर वह दयालु और सदाचारी बन गया। महान् आत्माए जिस कार्य को अपने जीवित काल में पूरा नहीं कर सकतीं उसे आत्मबलिदान द्वारा पूरा करती हैं।

धारिणी के प्राणत्याग को देख कर रथी भौंचका सा रह गया। वह कर्तव्यमूढ हो गया। उसे यह आशा न थी कि धारिणी इस तरह प्राण त्याग देगी। वह अपने को एक महासती का हत्यारा समझने लगा। पश्चाताप के कारण उसका हृदय भर आया। अपने को महापापी समझ कर शोक करता हुआ वह वहीं बैठ गया।

इसके रूप पर मोहित हो गए हैं। उसे अपने पति पर सन्देह हो गया। किन्तु किसी प्रमाण के बिना कुछ कहने का साहस न कर सकी।

वसुमती के आते ही रथी के घर का रंग ढंग बिल्कुल बदल गया। सब चीजें साफ सुथरी और व्यवस्थित रहने लगीं। नौकर चाकर तथा परिवार के सभी लोग प्रसन्न रहने लगे। वसुमती के गुणों से आकृष्ट हो कर सभी लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। रथी उसके गुणों को बखानते न थकता था। उसकी स्त्री को अब कुछ भी काम न करना पड़ता था फिर भी उसकी आँखों में वसुमती सदा खटका करती थी। वह सोच रही थी, मेरे पति दिन प्रति दिन वसुमती की ओर झुक रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि वह मेरा स्थान छीन ले। इस लिए जितना शीघ्र हो सके, इसे घर से निकाल देना चाहिए। मन में यह निश्चय करके वह मौका ढूँढने लगी।

वसुमती घर के काम में इतनी व्यस्त रहती थी कि अपने खान पान का भी ध्यान न था। किसी काम में किसी प्रकार की गल्ती न होने देती थी। इतने पर भी रथी की स्त्री उसके प्रत्येक काम में गल्ती निकालने की चेष्टा करती। उसके किए हुए काम को स्वयं बिगाड़ कर उसी पर दोष मढ़ देती। इतने पर भी वसुमती क्षुब्ध न होती। वह उत्तर देती– माताजी! भूल से ऐसा हो गया। भविष्य में सावधान रहूँगी। रथी की स्त्री को विश्वास था कि इस प्रकार प्रत्येक कार्य में गल्ती निकालने पर वसुमती या तो स्वयं तंग हो कर चली जाएगी या किसी दिन मेरा विरोध करेगी और मैं स्वयं झगड़ा खड़ा करके इसे घर से निकलवा दूँगी किन्तु उसका यह उपाय व्यर्थ गया। वसुमती ने क्रोध पर विजय प्राप्त कर रक्खी थी, इस लिए सारथी की स्त्री के कड़वे वचन और झूठे आरोप उसे विचलित न कर सके।

वसुमती की कार्यव्यस्तता देख कर एक दिन सारथी ने उसे

कहा– बेटी ! तुम राजमहल में पली हो। तुम्हारा शरीर इस योग्य नहीं है कि घर के कार्यों में इस तरह पिसा करो। तुम्हें अपने स्वास्थ्य और खान पान का भी ध्यान रखना चाहिए।

रथी की इस बात को उसकी स्त्री ने सुन लिया। उसे विश्वास हो गया कि वास्तव में मेरे पति इस पर आसक्त हो गए हैं। क्रोध से आँखें लाल करके वह वसुमती के पास आई और कहने लगी– क्यों ? मुझे ठगने चली है। ऊपर से तो मुझे मां कहती है और दिल में सौत बनने की इच्छा है। अच्छा हुआ मैं समय पर चेत गई। अब तुझे घर से निकलवा कर ही अन्न जल ग्रहण करूँगी। वसुमती के विरुद्ध वह जोर जोर से बकने लगी। घर के लोग उसके इस रूप को देख कर चकित रह गए। रथी को मालूम पड़ा तो वह भी दौड़ा हुआ आया और अपनी स्त्री को समझाने लगा। उसके समझाने पर वह अधिक बिगड़ गई और कहने लगी– अब तो सारा दोष मेरा ही है, क्योंकि मैं अच्छी नहीं लगती। मैं अच्छी लगती तो इसे क्यों लाते ? अब मैं निश्चय कर चुकी हूँ कि या तो इसे घर से निकाल दो नहीं तो खाना पीना छोड़ कर अपने प्राण दे दूँगी। केवल निकाल देने से ही मुझे सन्तोष न होगा। लड़ाई से लौटे हुए सभी योद्धा चम्पापुरी को लूट कर बहुत धन लाए हैं। आप कुछ भी नहीं लाए। इस लिए इसे बाजार में बेच कर मुझे बीस लाख मोहरें लाकर दो। तभी अन्न जल ग्रहण करूँगी।

रथी ने अपनी स्त्री को बहुत समझाया किन्तु वह न मानी। यद्यपि धारिणी और वसुमती के आदर्श से रथी का स्वभाव बहुत कोमल हो गया था फिर भी उसे क्रोध आ गया। उसने अपनी स्त्री को कहा– ऐसी सदाचारिणी और सेवापरायण पुत्री को मैं अपने घर से नहीं निकाल सकता। तुम्हीं मेरे घर से निकल जाओ। दोनों में तकरार बढ़ने लगी।

वसुमती ने सोचा—मेरे कारण ही यह विरोध खड़ा हुआ है। इस लिए मुझे ही इसे निपटाना चाहिए। यह सोच कर वह रथी की स्त्री से कहने लगी— माताजी! आपको घबराने की आवश्यकता नहीं है। आप की इच्छा शीघ्र पूरी हो जायगी।

इसके बाद उसने रथी से कहा— पिताजी! इसमें नाराज होने की कोई बात नहीं है, अगर माताजी बीस लाख मोहरें लेकर मुझे छुटकारा दे रही हैं तो यह मेरे लिए हर्ष की बात है। इनका तो मुझ पर महान् उपकार है। इनका सन्देह दूर करना भी हम दोनों के लिए जरूरी है इस लिए आप मेरे साथ बाजार में चलिए और मुझे बेच कर माताजी का सन्देह दूर कीजिए। अगर आपको मेरे सतीत्व पर विश्वास है तो कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

रथी वसुमती को छोड़ना नहीं चाहता था किन्तु वसुमती ने अपने व्यवहार और उपदेश द्वारा उसे इतना प्रभावित कर रक्खा था कि वह उसे अपनी आराध्य देवी मानता था। बिना कुछ कहे उसकी बात को मान लेता था। वह बोला— बेटी! मेरा दिल तो नहीं मानता कि तुम सरीखी मङ्गलमयी साध्वी सती कन्या को अलग करूँ किन्तु तुम्हारे सामने कुछ भी कहने का साहस नहीं होता, इस लिए इच्छा न होने पर भी मान लेता हूँ। मुझे दृढ़ विश्वास है, तुम जो कुछ कहोगी उससे सभी का कल्याण होगा।

रथी और वसुमती बाजार के लिए तैयार हो गए। वसुमती ने रथी की स्त्री को प्रणाम किया और कहा मेरे कारण आपको बहुत कष्ट हुआ है इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। उसने परिवार के सभी लोगों से नम्रता पूर्वक विदा ली, दासी के कपड़े पहने और रथी के साथ बाजार का रास्ता लिया।

बाजार के चौराहे में खड़ी होकर वसुमती स्वयं चिल्लाने लगी—

भाइयो! मैं दासी हूँ, बिकने के लिए आई हूँ। दूसरी ओर रथी एक कोने पर खड़ा आँसू बहा रहा था। वसुमती से अलग होने के लिए अपने भाग्य को कोस रहा था।

वसुमती के चेहरे को देख कर सभी लोग कहते—यह किसी बड़े घर की लड़की मालूम पड़ती है। कौतूहल वश उसके पास जाकर पूछते— देवि! तुम कौन हो? यहाँ क्यों खड़ी हो?

वसुमती उत्तर देती— मैं दासी हूँ। यहाँ बिकने के लिए आई हूँ। मेरी कीमत बीस लाख मोहरें हैं। मेरे पिता को कीमत देकर जो चाहे मुझे खरीद सकता है। मैं घर का सारा काम करूँगी। घर को सुधार दूँगी। किसी प्रकार की त्रुटि न रहने दूँगी। उसने अपनी वास्तविकता को बताना ठीक न समझा।

यद्यपि वसुमती की सौम्य आकृति को देख कर सभी उसे अपने घर ले जाना चाहते थे किन्तु एक दासी के लिए इतनी बड़ी रकम देना किसी ने ठीक न समझा।

उसी समय एक वेश्या पालकी में बैठी हुई वहाँ आई। वह नगर की प्रसिद्ध वेश्या थी। नृत्य, गान और दूसरी कलाओं में उसके समान कोई न था। नगर में वह 'नगरनायिका' के रूप में प्रसिद्ध थी। अपने पाप के पेशे से अपार धन बटोर चुकी थी।

वसुमती को देख कर उसे अपार हर्ष हुआ। साथ में आश्चर्य भी हुआ कि ऐसी सुन्दरी बाजार में बिक रही है। वेश्या ने सोचा— ऐसी सुन्दरी को पाकर मेरा धन्धा चमक उठेगा। थोड़े ही दिनों में सारी रकम वसूल हो जायगी। इसलिए मुंह मांगे दाम देने को तैयार हो गई।

उसने वसुमती से कहा— तुम मेरे साथ चलो। साथ में अपने पिता को भी ले लो। मैं उन्हें बीस लाख मोहरें दे दूँगी।

वेश्या खूब [illegible] थी। [illegible] वस्त्र पहिन [illegible]

पर्णों से लदी थी। उसकी बोली और चाल ढाल में बनावट थी। वसुमती उसकी भावभंगी से समझ गई कि यह कोई भद्र औरत नहीं है। उसने वेश्या से पूछा– माताजी! आप मुझे किस कार्य के लिए खरीदना चाहती हैं? आपके घर का आचार क्या है?

वेश्या ने उत्तर दिया– तू तो भोली है। नित्य नए शृङ्गार करना, नए नए वस्त्र तथा आभूषणों से अपने शरीर को सुसज्जित करना तथा नित्य नए सुख भोगना हमारे यहाँ का आचार है। मेरे घर पर तुझे दासीपना न करना होगा किन्तु बड़े बड़े पुरुषों को अपना दास बनाए रखना होगा। मैं अपनी नृत्य और गान कला तुझे सिखा दूँगी। फिर ऐसा कौन है जो तेरे आगे न झुक जाय।

वेश्या की बात समाप्त होते ही वसुमती ने कहा– माताजी! आप मुझे जिस उद्देश्य से खरीदना चाहती हैं और जो कार्य लेना चाहती हैं वह मुझ से न होगा। मेरा और आपका आचार एक दूसरे से विरुद्ध है। आप पुरुषों को विभ्रम और मोह में डाल कर पतन की ओर ले जाना चाहती हैं और मैं उन्हें इस मोह से निकाल कर ऊँचा उठाना चाहती हूँ। जिस जाल में आप उन्हें फँसाना चाहती हैं, मैं उससे छुड़ाना चाहती हूँ। इसलिए मुझे खरीदने से आपको कोई लाभ न होगा। मैं आपके साथ नहीं चलूँगी।

वेश्या ने वसुमती को सब तरह के प्रलोभन दिए। उसे एक दासी की हालत से उठा कर सांसारिक सुखों की चरम सीमा पर पहुँचाने का वचन दिया किन्तु वसुमती अपने सतीत्व के सामने स्वर्गीय भोगों को भी तुच्छ समझती थी। संसार के सारे सुख इकट्ठे होकर भी उसे धर्म से विचलित न कर सकते थे। उसने वेश्या के सभी प्रलोभनों को ठुकरा दिया।

वेश्या ने सोचा– यह लड़की इस प्रकार न मानेगी। इस भीड में खड़े हुए बड़े बड़े आदमी मेरी हाँ में हाँ मिलाने वाले हैं। जिसे

में न्याय कह दूँ वही उनके लिए न्याय है। सभी मेरे इशारे पर नाचते हैं। किसी में मेरा विरोध करने का साहस नहीं है, इस लिए इसे जबर्दस्ती पकड़ कर ले चलना चाहिए। वहाँ पहुँचने के बाद अपने आप ठीक हो जाएगी।

यह सोच कर वेश्या ने उससे कहा– तुम यहाँ बिकने के लिए आई हो। बीस लाख मोहरें तुमने अपनी कीमत स्वयं बताई है। जो इतनी मोहरें दे दे उसका तुम पर अधिकार हो जाता है। फिर वह तुम्हें कहीं ले चले और कुछ काम ले, तुम्हें विरोध करने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। बिकी हुई वस्तु पर खरीदने वाले का पूर्ण अधिकार होता है। मैंने तुम्हें खरीद लिया है। तुम्हारे आराम और सन्मान के लिए अब तक मैं तेरी खुशामद करती रही। यदि तुम ऐसे न चलोगी तो मैं जबर्दस्ती ले चलूँगी। यह कह कर वेश्या ने भीड़ पर कटाक्ष भरी नजर फैंकी। उसके समर्थक कुछ लोग हाँ में हाँ मिला कर कहने लगे– आप बिल्कुल ठीक कहती हैं। आपका पूरा अधिकार है। आप इससे अपनी इच्छानुसार कोई भी काम ले सकती हैं।

लोगों की बात सुन कर वसुमती मन ही मन सोचने लगी– ये भोले प्राणी किस प्रकार कामान्ध होकर पाप का समर्थन कर रहे हैं। प्रभो! इन्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो। उसने प्रकट में कहा– [illegible] भीड़ ही नहीं अगर सारा संसार प्रतिकूल हो जाय तो भी [illegible] धर्म से विचलित नहीं कर सकता।

वसुमती की दृढता को देख कर भीड़ में से कुछ [illegible] समर्थक बन गए और कहने लगे– कोई किसी पर [illegible] नहीं कर सकता। वेश्या के साथ जाना या न जाना इसकी [illegible] निर्भर है।

वेश्या के समर्थक अधिक थे इस लिए [illegible] उसने अपने [illegible]

के लिए आगे बढ़ी। वसुमती कुछ पीछे हट गई।

रथी अब तक अलग खड़ा हुआ केवल बातें सुन रहा था। वसुमती की दुर्दशा देख कर उसे अपनी स्त्री पर क्रोध आ रहा था। उसे पकड़ने के लिए वेश्या को आगे बढ़ती देख कर उससे न रहा गया। म्यान से तलवार निकाल कर कड़कते हुए बोला— सावधान ! इसकी इच्छा के बिना अगर मेरी बेटी को हाथ लगाया तो तुम्हारी खैर नहीं है। यह कहकर वह वसुमती के पास खड़ा होगया।

हाथ में नंगी तलवार लिए हुए कुपित रथी के भीषण रूप को देख कर वेश्या डर गई। भय से पीछे हट कर वह चिल्लाने लगी— देखो ! ये मुझे तलवार से मारते हैं। जब लड़की बिक चुकी है तो अब इन्हें बोलने का क्या अधिकार है? इन्हें केवल कीमत लेने से मतलब है और मैं पूरी कीमत देने के लिए तैयार हूँ, फिर इन्हें बीच में पड़ने का क्या अधिकार है। वेश्या के समर्थक भी उसके साथ चिल्लाने लगे। रथी को आगे बढ़ते देख कर कुछ लोग उसकी ओर भी बोलने लगे। दोनों दल तन गए। झगड़ा बढ़ने लगा।

वसुमती ने सोचा— दोनों पक्ष अज्ञानता के कारण एक दूसरे के रक्त पिपासु बने हुए हैं। क्रोधवश एक दूसरे को मारने के लिए उद्यत हैं। एक दल तो अपने स्वार्थ, वासना और लोभ में पड़ कर अन्धा हो रहा है, इस समय उसे किसी प्रकार नहीं समझाया जा सकता, किन्तु दूसरा पक्ष न्याय की रक्षा के लिए हिंसा का आश्रय ले रहा है। धर्म की रक्षा के लिए अधर्म की शरण ले रहा है। क्या धर्म अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकता ? क्या पाप की अपेक्षा वह निर्बल है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। धर्म अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है। उसे अधर्म का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। धर्म की तो सदा विजय होती है फिर वह पाप की शरण क्यों ले। हिंसा पाप है। न्याय की रक्षा के लिए उसकी

आवश्यकता नहीं है। यह सोच कर उसने रथी से कहा--

पिताजी! शान्त रहिए। क्रोध और हिंसा को हृदय में कभी स्थान न देना चाहिए। क्या आप माताजी की शिक्षा को भूल गए? मेरी रक्षा के लिए तलवार की आवश्यकता नहीं है। धर्म अपनी रक्षा स्वय करता है। आप तलवार को म्यान में कर लीजिए।

रथी अधीर हो उठा। उसे विश्वास न था कि ऐसे समय में भी अहिंसा काम कर सकती है। उसने कहा-- बेटी! तेरा विरोध करने का साहस मुझ में नहीं है, इस लिए विना सोचे समझे मान लेता हूँ, किन्तु क्या यह उचित कहा जा सकता है कि मेरी बेटी पर मेरी आँखों के सामने अत्याचार हो और मैं निर्जीव स्तम्भ की तरह खड़ा रहूँ। रक्षा के लिए प्रयत्न न करूं। इस समय आततार्ई को दण्ड देने के सिवाय मेरा और क्या कर्तव्य हो सकता है?

पिताजी! आध्यात्मिक बल में शारीरिक बल से अनन्तगुणी शक्ति है मुझे इस बात पर दृढ विश्वास है, इस लिए पाशविक बल मेरा कुछ नहीं कर सकता। आप किसी बात की चिन्ता मत कीजिए। मैं पहले कह चुकी हूँ, धर्म अपनी रक्षा स्वय करता है।

रथी को तलवार म्यान में रखते हुए देख कर वेश्या का साहस और बढ गया। वह सोचने लगी कि वसुमती केवल ऊपर से विरोध करती है, वास्तव में मेरे साथ जाना चाहती है। उसने फिर खींचातानी शुरू की।

वसुमती को शारीरिक बल पर विश्वास न था, इस लिए हथियार द्वारा या दूसरे किसी उपाय से विरोध करना उसने उचित न समझा। आत्मशक्ति पर विश्वास करके वह वहीं बैठ गई और कहने लगी-- जब मैं नहीं जाना चाहती तो मुझे कौन ले जा सकता है?

वेश्या ने सोचा अब इसे उठा कर पालकी में डाल देना चाहिए।

वसुमती को उठाने के लिए वह आगे बढ़ी। इतने में बहुत से बन्दर वेश्या पर टूट पड़े। उसके शरीर को नोच डाला। वेश्या सहायता के लिए चिल्लाई किन्तु उसके नौकर तथा समर्थक बन्दरों से डरकर पहले ही भाग चुके थे। कोई उसकी सहायता के लिए न आया।

बन्दरों ने वेश्या को लोहूलुहान कर दिया। उसके करुण चीत्कार को सुन कर वसुमती से न रहा गया। उसने बन्दरों को डाट कर कहा— हटो! माता को छोड़ दो। इसे क्यों कष्ट दे रहे हो? वसुमती के डाटते ही सभी बन्दर भाग गए।

वेश्या के पास आकर वसुमती ने उसे उठाया और सान्त्वना देते हुए उसके शरीर पर हाथ फेरा। वेश्या के सारे शरीर में भयङ्कर वेदना हो रही थी किन्तु वसुमती का हाथ लगते ही शान्त हो गई।

कृतज्ञता के भार से दबी हुई वेश्या आँखें नीची किए सोच रही थी कि अपकारी का भी उपकार करने वाली यह कोई देवी है। इसके हाथ का स्पर्श होते ही मेरी सारी पीड़ा भाग गई। वास्तव में यह कोई महासती है।

बन्दरों के चले जाने पर वेश्या के परिजन और समर्थक फिर वहाँ इकट्ठे हो गए और विविध प्रकार से सहानुभूति दिखाने लगे। वेश्या के हृदय में वसुमती द्वारा किया हुआ उपकार घर कर चुका था इस लिए सूखी सहानुभूति उसे अच्छी न लगी।

अपने व्यवहार पर लज्जित होते हुए वेश्या ने वसुमती से कहा— देवि! सांसारिक वासनाओं में पली हुई होने के कारण मैं आपके वास्तविक स्वरूप को न जान सकी। मैंने आपकी शिक्षा को मजाक समझा, सदाचार को ढोंग समझा। धर्म, न्याय और सतीत्व का मेरे हृदय में कोई स्थान न था। इसी कारण अज्ञानतावश मैंने आप के साथ दुर्व्यवहार किया। अहिंसा और सतीत्व का साक्षात् आदर्श रख कर आपने मेरी आँखें खोल दीं। मैं आपके ऋण से कभी मुक्त

नहीं हो सकती। आपके साथ किए गए दुर्व्यवहार के लिए मुझे पश्चात्ताप हो रहा है। आपकी आत्मा महान् है। आशा है, अज्ञानता-वश किए गए उस अपराध के लिए आप मुझे क्षमा कर देंगी।

अब मैंने अपने पाप के पेशे को छोड़ देने का निश्चय कर लिया है। आपने मेरे जीवन की धारा को बदल दिया। यह मेरे गौरव की बात होती यदि आपके चरणों से मेरा घर पवित्र होता। किन्तु उस गन्दे, नारकीय वातावरण में आप सरीखी पवित्र आत्मा को ले जाना मैं उचित नहीं समझती। यह कह कर अपने अपराध के लिए बार बार क्षमा मांगती हुई वेश्या अपने घर चली गई। वसुमती तथा वेश्या की बात बिजली के समान सारे शहर में फैल गई।

नगरी में धनावह नाम का एक धर्मात्मा सेठ रहता था। उसके कोई सन्तान न थी। वसुमती की प्रशंसा सुन कर उसकी इच्छा हुई कि ऐसी धर्मात्मा सती मेरे घर रहे तो कितना अच्छा हो। उसके रहने से मेरे घर का वातावरण पवित्र हो जायगा और मैं निर्विघ्न धर्माचरण कर सकूँगा।

उत्तरोत्तर घटनाओं को देख कर रथी का वसुमती की ओर अधिकाधिक झुकाव हो रहा था। ऐसी महासती को बेचना उसे बहुत बुरा लग रहा था। वह बार बार वसुमती से वापिस लौटने की प्रार्थना करने लगा और वसुमती उसे सान्त्वना देने लगी।

इतने में धनावह सेठ वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने रथी को मोहरें देना स्वीकार कर लिया और वसुमती को अपने घर ले जाने के लिए कहा। वसुमती ने पूछा– पिताजी! आपके घर का क्या आचार है?

सेठ ने उत्तर दिया– पुत्री! यथाशक्ति धर्म की आराधना करना ही मेरे घर का आचार है। मैं बारह व्रतधारी श्रावक हूँ। घर पर आए हुए अतिथि को विमुख न जाने देना मेरा नियम है। धार्मिक कार्यों में मेरी सहायता [illegible] कार्य होगा। मैं तुम्हें

दिलाता हूँ कि मेरे यहाँ तुम्हारे सत्य और शील के पालन में किसी प्रकार की बाधा न होगी।

वसुमती धनावह सेठ के साथ जाने को तैयार हो गई और रथी से कहने लगी– पिताजी! आप मेरे साथ चलिए और बीस लाख मोहरें लाकर माताजी को दे दीजिए।

रथी के हृदय में अपार दुःख हो रहा था। उसके पैर आगे नहीं पड़ रहे थे। धीरे धीरे सभी धनावह सेठ के घर आए। धनावह ने तिजोरी से बीस लाख मोहरें निकाल कर रथी के सामने रख दीं और कहा– आप इन्हें ले लीजिए।

रथी ने कहा– सेठ साहेब! अपनी इस पुत्री को अलग करने की मेरी इच्छा नहीं है किन्तु मेरे घर के कलुषित वातावरण में यह नहीं रहना चाहती। अगर इसकी इच्छा है तो आपके घर रहे किन्तु इसे बेचकर मैं पाप का भागी नहीं बनना चाहता। धनावह सेठ मोहरें देना चाहता था किन्तु रथी उन्हें लेना नहीं चाहता था।

यह देखकर वसुमती रथी से कहने लगी– सेठजी और आप दोनों मेरे पिता हैं। मैं दोनों की कन्या हूँ। इस नाते आप दोनों भाई भाई हैं। भाइयों में खरीदने और बेचने का प्रश्न ही नहीं होता। बीस लाख मोहरें आप अपने भाई की तरफ से माताजी को भेंट दे दीजिए। यह कह कर उसने धनावह सेठ के नौकरों द्वारा मोहरें रथी के घर पहुँचवा दीं। रथी और धनावह सेठ का सम्बन्ध सदा के लिए दृढ़ हो गया।

धनावह सेठ की पत्नी का नाम मूला था। उसका स्वभाव सेठ के सर्वथा विपरीत था। सेठ जितना नम्र, सरल, धार्मिक और दयालु था, मूला उतनी ही कठोर, कपटी और निर्दय थी। सेठ दया, दान आदि धार्मिक कार्यों को पसन्द करता था किन्तु मूला को इन सब बातों से घृणा थी।

वसुमती को अपने साथ लेकर सेठ ने मूला से कहा– हमारे सौभाग्य से यह गुणवती कन्या प्राप्त हुई है। इसे अपनी पुत्री समझना। इसके रहने से हमारे घर में धर्म, प्रेम और सुख की वृद्धि होगी।

मूला ऊपर से तो सेठ की बातें सुन रही थी किन्तु हृदय में दूसरी ही बातें सोच रही थी। सेठजी इस सुन्दरी को क्यों लाए हैं ? साथ में इसकी प्रशंसा भी क्यों कर रहे हैं ? ऊपर से तो पुत्री कह रहे हैं किन्तु हृदय में कुछ और बात है। भला इसके सौन्दर्य को देख कर किसका चित्त विचलित न होगा।

हृदय के भावों को मन ही में दबा कर मूला ने सेठ की बात ऊपर से स्वीकार कर ली। वसुमती सेठ के घर रहने लगी। उसके कार्य, व्यवहार तथा चारित्र से घर के सभी लोग प्रसन्न रहने लगे। सभी उसकी प्रशंसा करने लगे। सेठजी स्वयं भी उसके कार्यों की सराहना करते थे किन्तु मूला पर इन सब का उल्टा असर पड़ रहा था।

एक दिन सेठ ने वसुमती से पूछा– बेटी ! तेरा नाम क्या है ?

पिताजी ! मैं आपकी पुत्री हूँ। पुत्री का नाम वही होता है जो माता पिता रक्खें। वसुमती ने उत्तर दिया।

बेटी ! मैंने तेरी सारी बातें सुन ली हैं। जैसे चन्दन काटने वाले को भी सुगन्ध और शान्ति देता है इसी प्रकार तुम अपकारी पर भी उपकार करने वाली हो, इसलिए मैं तुम्हारा नाम चन्दनबाला रखता हूँ। सेठ ने पुराने नाम की छानबीन करना उचित न समझा। सभी लोग वसुमती को चन्दनबाला कहने लगे।

एक दिन चन्दनबाला स्नान के बाद अपने बाल सुखा रही थी। इतने में सेठजी बाहर से आए और अपने पैर धोने के लिए पानी मांगा। चन्दनबाला गरम पानी, बैठने के लिए चौकी तथा पैर धोने का बर्तन ले आई और बोली– पिताजी ! आप यहाँ विराजें। मैं आपके पैर धो देती हूँ।

सेठजी नहीं चाहते थे कि एक सती स्त्री से जिसे अपनी पुत्री मान लिया है, पैर धुलवाए जॉय। उन्होंने चन्दनबाला से बहुत कहा कि पैर धोने का कार्य उसके योग्य नहीं है किन्तु चन्दनबाला सेवा के कार्य को छोटा न मानती थी। वह इसे उच्च और आदर्श कर्तव्य समझती थी। पिता के पैर धोना वह अपना परम सौभाग्य मानती थी। उसने सेठजी को मना लिया और पैर धोने बैठ गई।

पैर धोते समय चन्दनबाला यह सोच कर बहुत प्रसन्न हो रही थी कि उसे पितृसेवा का अपूर्व अवसर मिला। सेठजी चन्दनबाला को अपनी निजी सन्तान समझ कर वात्सल्य प्रेम से गद्गद हो रहे थे। उनके मुख पर अपत्यस्नेह स्पष्ट झलक रहा था। चन्दनबाला और सेठ दोनों के हृदयों में पवित्र प्रेम का संचार हो रहा था।

पैर धोते समय सिर के हिलने से चन्दनबाला के बाल उसके मुंह पर आ रहे थे जिससे उसकी दृष्टि अवरुद्ध हो जाती थी। सेठजी ने उन बालों को उठा कर पीछे की ओर कर दिया।

मूला इस दृश्य को देख रही थी। हृदय मलीन होने के कारण प्रत्येक बात उसे उल्टी मालूम पड़ रही थी। सेठ को चन्दनबाला के केश ऊपर करते देख कर वह जल भुन कर रह गई। उसे विश्वास हो गया कि सेठ का चन्दनबाला के साथ अनुचित सम्बन्ध है। उसे घर से निकाल देने के लिए वह उपाय सोचने लगी।

मूला का व्यवहार चन्दनबाला के प्रति बहुत कठोर हो गया। उसके प्रत्येक कार्य में दोष निकाले जाने लगे। बात बात पर डांट पड़ने लगी, किन्तु चन्दनबाला इस प्रकार विचलित होने वाली न थी। वह मूला की प्रत्येक बात का उत्तर शान्ति और नम्रता के साथ देती। अपना दोष न होने पर भी उसे मान लेती और क्षमा याचना कर लेती। मूला झगड़ा करके वसुमती को निकालने में सफल न हुई। वह कोई दूसरा उपाय सोचने लगी।

एक बार सेठजी तीन चार दिन के लिए किसी बाहर गाँव को चले गए। चन्दनबाला को निकाल देने के लिए मूला ने इस अवसर को ठीक समझा। उसने सभी नौकरों को घर से बाहर ऐसे कार्यों पर भेज दिया जिससे वे तीन चार दिन तक न लौट सकें। घर का दरवाजा बन्द करके वह चन्दनबाला के पास आई और कहने लगी– तेरी सूरत तो भोली है किन्तु दिल में पाप भरा हुआ है। जिसे पिता कहती है उसी को पति बनाना चाहती है। जिसे मा कहती है उसकी सौत बनने चली है। पुरुष भी कितने धूर्त होते हैं, जिसे पुत्री कहते हैं उसी के लिए हृदय में बुरे विचार रखते हैं। अब मैंने सब कुछ देख लिया है। अपनी आँखों के सामने मैं यह काड कभी न होने दूँगी। उस दिन सेठजी तुम्हारे मुँह पर हाथ क्यों फेर रहे थे,?

चन्दनबाला ने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया–माताजी! मैं आप की पुत्री हूँ। पुत्री पर इस प्रकार सन्देह करना ठीक नहीं है। मैं सच्चे हृदय से आपको माता और सेठजी को पिता मानती हूँ। सेठजी भी मुझे शुद्ध हृदय से अपनी पुत्री समझते हैं। इसके लिए जैसे चाहें आप मेरी परीक्षा ले सकती हैं।

अच्छा, मैं देखती हूँ तू किस प्रकार परीक्षा देती है। मेरे पति ने तेरे इन केशों को छूआ है इस लिए पहले पहल मैं इन्हें ही दण्ड देना चाहती हूँ। यह कह कर मूला कैंची ले आई और चन्दनबाला के सुन्दर केशों को काट डाला।

अपने सुन्दर और लम्बे केशों के कट जाने पर भी चन्दनबाला पहले के समान ही प्रसन्न थी। उसके मुख पर विषाद की रेखा तक न थी। वह सोच रही थी– यह मेरे लिए हर्ष की बात है यदि केशों के कट जाने मात्र से माताजी का सन्देह दूर हो जाय।

मूला उसके प्रसन्न मुख को देख कर और कुपित हो गई। उस

ने और भी कठोर दण्ड देने का निश्चय किया। चन्दनबाला के सारे कपड़े उतार लिए और पुराने मैले कपड़े की एक काछ लगा दी। हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डाल दी। इसके बाद एक पुराने भौंरे (तहखाने, तलघर) में उसे बन्द करके ताला लगा दिया। मूला को विश्वास हो गया कि चन्दनबाला वहीं पड़ी पड़ी मर जाएगी। उसे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि सौत बन कर उसके सुख सुहाग में बाधा डालने वाली अब नहीं रही।

इतने में उसके हृदय में भय का संचार हुआ। सोचने लगी– अगर कोई यहाँ आगया और चन्दनबाला के विषय में पूछने लगा तो क्या उत्तर दिया जाएगा? मकान के ताला बन्द करके वह अपने पीहर चली गई। सोचा– तीन चार दिन तो यह बात ढकी ही रहेगी, बाद में कह दूँगी कि वह किसी के साथ भाग गई।

भौंरे में पड़े पड़े चन्दनबाला को तीन दिन हो गए। उस समय उसके लिए भगवान् के नाम का ही एक मात्र सहारा था। वह नवकार मन्त्र का जाप करने लगी। उसी में इतनी लीन थी कि भूख प्यास आदि सभी कष्टों को भूल गई। नवकार मन्त्र के स्मरण में उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त हो रहा था। मूला सेठानी को वह धन्य वाद दे रही थी जिसकी कृपा से ईश्वरभजन का ऐसा सुयोग मिला।

चौथे दिन दोपहर के समय धनावह सेठ बाहर से लौटे। देखा, घर का ताला बन्द है। सेठानी या नौकर चाकर किसी का पता नहीं है। सेठजी आश्चर्य में पड़ गए। उनके घर का द्वार कभी बन्द न होता था। अतिथियों के लिए सदा खुला रहता था।

सेठ ने सोचा– मूला अपने पीहर चली गई होगी। नौकर चाकर भी इधर उधर चले गए होंगे, किन्तु चन्दनबाला तो कहीं नहीं जा सकती। पड़ोसियों से पूछने पर मालूम पड़ा कि तीन दिन से उसका कोई पता नहीं है। इतने में एक नौकर बाहर से आया। पूछने पर



बड़ा पापी हूँ, जिसके घर में तेरे समान सती स्त्री को ऐसा महान कष्ट उठाना पड़ा।

चन्दनबाला सेठ को धैर्य बंधाने और सान्त्वना देने लगी। उसने बार बार कहा— पिताजी इसमें आपका और माताजी का कुछ दोष नहीं है। यह तो मेरे पिछले किए हुए कर्मों का फल है। किए हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। इसमें करने वाले के सिवाय और किसी का दोष नहीं होता।

सेठजी शोकसागर में डूब रहे थे। उन पर चन्दनबाला की किसी बात का असर न हो रहा था। सेठजी का ध्यान किसी कार्य की ओर खींच कर उनका शोक दूर करने के उद्देश्य से चन्दनबाला ने कहा— पिताजी! मुझे भूख लगी है। कुछ खाने को दीजिए। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जो वस्तु सबसे पहले आपके हाथ में आवेगी उसी से पारणा करूँगी, इस लिए नई तैयार की हुई या बाहर से लाई हुई कोई वस्तु मैं स्वीकार न करूँगी।

सेठजी रसोई में गए किन्तु वहाँ ताला लगा हुआ था। इधर उधर देखने पर एक सूप में पड़े हुए उड़द के बाकले दिखाई दिए। वे घोड़ों के लिए उबाले गए थे और थोड़े से बाकी बच गए थे। चन्दनबाला की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए सेठ उन्हीं को ले आया। चन्दनबाला के हाथ में बाकले देकर सेठ बेड़ी तोड़ने के लिए लुहार को बुलाने चला गया।

चन्दनबाला बाकले लेकर देहली पर बैठ गई। उसका एक पैर देहली के अन्दर था और दूसरा बाहर। पारणा करने से पहले उसे अतिथि की याद आई। वह विचारने लगी— मैं प्रतिदिन अतिथियों को देकर फिर भोजन करती हूँ। यदि इस समय कोई निर्ग्रन्थ साधु यहाँ पधार जाय तो मेरा अहोभाग्य हो। उन्हें शुद्ध भिक्षा देकर मैं अपना जीवन सफल करूँ। देहली पर बैठी हुई चन्दनबाला

इस प्रकार भावना भा रही थी।

उन दिनों श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ अवस्था में थे। कैवल्यप्राप्ति के लिए कठोर साधना कर रहे थे। लम्बी तथा उग्र तपस्याओं द्वारा अपने शरीर को सुखा डाला था। एक बार उन्होंने अतिकठोर अभिग्रह धारण किया। उनका निश्चय था–

राजकन्या हो, अविवाहिता हो, सदाचारिणी हो, निरपराध होने पर भी जिसके पांवों में बेड़ियाँ तथा हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई हों, सिर मुण्डा हुआ हो, शरीर पर काछ लगी हुई हो, तीन दिन का उपवास किए हो, पारणे के लिए उड़द के बाकले सूप में लिए हो, न घर में हो, न बाहर हो, एक पैर देहली के भीतर तथा दूसरा बाहर हो, दान देने की भावना से अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हो, प्रसन्न मुख हो और आखों में आँसू भी हों, इन तेरह बातों के मिलने पर ही आहार ग्रहण करूँगा। अगर ये बातें न मिलें तो आजीवन अनशन है।

आहार की गवेषणा में फिरते हुए भगवान को पाँच मास पचीस दिन होगए किन्तु अभिग्रह की बातें पूरी न हुई। सभी लोग भगवान की शरीर रक्षा के लिए चिन्तित थे। साथ में उनके कठिन अभिग्रह के लिए आश्चर्यचकित भी थे।

घूमते घूमते भगवान कौशाम्बी आ पहुँचे। नगरी में आहार की गवेषणा करते हुए धनावह सेठ के घर आए। चन्दनबाला को उस रूप में बैठी हुई देखा। अभिग्रह की और बातें तो मिल गई किन्तु एक बात न मिली– उसकी आँखों में आँसू न थे। भगवान् वापिस लौटने लगे।

उन्हें वापिस लौटते देख चन्दनबाला की आँखों में आँसू आ गए। वह अपने भाग्य को कोसने लगी कि ऐसे महान् अतिथि आकर भी मेरे दुर्भाग्य से वापिस लौट रहे हैं। भगवान् ने अभि-

नक पीछे देखा। उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। तेरहवीं बात भी पूरी होगई। उन्होंने चन्दनबाला के पास आकर हाथ फैला दिए। सांसारिक वासनाओं से कलुषित हृदय वाली सारथी की स्त्री और मूला जिसे अनाथ, अवारागिर्द और भ्रष्ट समझती थीं, त्रिलोक पूजित भगवान् उसी के सामने भिक्षुक बन कर खड़े थे।

चन्दनबाला ने आनन्द से पुलकित होकर उड़द के बाकले बहरा दिए। उसी समय आकाश में दुन्दुभि बजने लगी। देवों ने जय-नाद किया—सती चन्दनबाला की जय। धनावह के घर फूल और सोनैयों की वृष्टि होने लगी। चन्दनबाला की हथकड़ी और बेड़ियाँ आभूषणों के रूप में बदल गई। सारा शरीर दिव्य वस्त्रों से सुशोभित होगया और सिर पर कोमल सुन्दर और लम्बे केश आगए। उसी समय वहाँ रत्नजटित दिव्य सिंहासन प्रगट हुआ। इन्द्र आदि देवों ने चन्दनबाला को उस पर बैठाया और स्वयं स्तुति करने लगे।

भगवान् महावीर के पारणे की बात बिजली के समान सारे नगर में फैल गई। मूला को भी इस बात का पता चला। अपने घर पर सोनैयों की वृष्टि हुई जान कर वह भागी हुई आई। घर पहुँचने पर सामने दिव्य वस्त्रालङ्कार पहिन कर सिंहासन पर बैठी हुई चन्दनबाला को देख कर वह आश्चर्यचकित रह गई।

मूला को देखते ही चन्दनबाला उसके सामने गई। विनयपूर्वक प्रणाम करके अपने सुन्दर केशों से उसके पैर पोंछती हुई कहने लगी— माताजी! यह सब आप के चरणों का प्रताप है। लज्जा के कारण मूला का मस्तक नीचे झुक गया। चन्दनबाला उसका हाथ पकड़ कर अन्दर ले गई और अपने साथ सिंहासन पर बिठा लिया।

चन्दनबाला की बेड़ियाँ खुलवाने के लिए सेठ लुहार के पास गया हुआ था। उसने भी सारी बातें सुनीं, प्रसन्न होता हुआ अपने घर आया। मूला को चन्दनबाला के साथ बैठी हुई देख कर सेठ

को क्रोध आ गया। वह मूला को डाटने लगा।

चन्दनबाला सेठजी को देखते ही सिंहासन से उतर गई। उन्हें मूला पर क्रुद्ध होते हुए देख कर कहने लगी— पिताजी ! इस में माताजी का कोई दोष नहीं है। प्रत्येक घटना अपने किए हुए कर्मों के अनुसार ही घटती है। हमें इनका उपकार मानना चाहिए, जिससे भगवान् महावीर का पारणा हमारे घर हो सका। इन्द्र आदि देवों के द्वारा मुझे मालूम पड़ा कि भगवान् के तेरह बातों का अभिग्रह था। वह अभिग्रह माताजी की कृपा से ही पूरा हुआ है। सेठ का क्रोध शान्त करके चन्दनबाला दोनों के साथ सिंहासन पर बैठ गई।

धीरे धीरे शहर में यह बात भी फैल गई कि जो लड़की उस दिन बाजार में बिक रही थी, जिसने वेश्या के साथ जाना अस्वीकार किया था और अन्त में धनावह सेठ के हाथ बिकी थी वह चम्पानगरी के राजा दधिवाहन और रानी धारिणी की कन्या है। उसी के हाथ से भगवान् महावीर का पारणा हुआ है।

चन्दनबाला को सेठ के पास छोड़ कर अपने घर लौटने के बाद रथी बहुत ही दुखी रहने लगा। उसे वे बीस लाख सोनैये बहुत बुरे लगते थे। उसकी स्त्री उसे विविध प्रकार से खुश करने का प्रयत्न करती किन्तु वे बातें उसे जले पर नमक के समान मालूम पड़तीं। पास पड़ोस के लोग भी चन्दनबाला की सदा प्रशंसा करते। इन सब बातों का रथी की स्त्री पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगी कि चन्दनबाला मुझे ही क्यों बुरी लगती है। सारी दुनिया तो उसकी प्रशंसा करती है। उसे सभी बातों में अपना ही दोष दिखाई देने लगा। पति पर किया गया आक्षेप भी निराधार मालूम पड़ा। धीरे धीरे उसने वेश्या का सुधरना तथा दूसरी बातें भी सुनीं। उसे विश्वास हो गया कि सारा दोष मेरा ही है। मैंने चन्दनबाला के असली रूप को नहीं समझा। उसे बहुत पश्चात्ताप

होने लगा। चन्दनबाला को वापिस लाने का प्रयत्न व्यर्थ समझ कर उसने निश्चय किया– मैं भी आज से चन्दनबाला के समान ही आचरण करूँगी। उसी के समान घर के सारे काम, नम्रतापूर्ण व्यवहार तथा ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी। भोगविलास, वासनाओं तथा सभी बुरी बातों से दूर रहूँगी। इन बीस लाख मोहरों को अलग ही पड़ी रहने दूँगी। अपने काम में न लाऊँगी।

रथी की स्त्री का स्वभाव एक दम बदल गया। उसे देख कर रथी और पड़ोसियों को आश्चर्य होने लगा।

भगवान् महावीर के पारणे की बात सुन कर रथी की स्त्री ने भी चन्दनबाला के दर्शन करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। रथी को यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों चन्दनबाला के दर्शनों के लिए धनावह सेठ के घर की ओर रवाना हुए।

वेश्या भी सारा हाल सुन कर चन्दनबाला के पास चली। रथी की स्त्री और वेश्या दोनों चन्दनबाला के पास पहुँच कर अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप करने लगीं। चन्दनबाला ने सारा दोष अपने कर्मों का बता कर उन्हें शान्त किया। रथी और सेठ भाई भाई के समान एक दूसरे से मिले। रथी की स्त्री और वेश्या ने अपना जीवन सुधारने के लिए चन्दनबाला का बहुत उपकार माना।

राजा शतानीक की रानी ने भी सारी बातें सुनीं। अपनी बहिन* की पुत्री के साथ होनेवाले दुर्व्यवहार के लिए उसने अपने पति को ही दोषी समझा। उसने राजा शतानीक को बुला

* इतिहास से पता चलता है कि दधिवाहन राजा की तीन रानियाँ थीं– अभया पद्मावती और धारिणी। जिस समय का यह वर्णन है उस समय केवल धारिणी थी। अभया मारी गई थी और पद्मावती दीक्षा ले चुकी थी। मृगावती और पद्मावती दोनों महाराजा चेटक (चेड़ा) की पुत्रियाँ थीं। वे दोनों सगी बहनें थीं और धारिणी पद्मावती की सपत्नी थी। इसी सम्बन्ध से मृगावती चन्दनबाला की मौसी थी।

कर कहा– आपके लोभ के कारण कैसा अन्याय हुआ, कितनी निर्दोष तथा पवित्र आत्माओं को भयङ्कर विपत्तियों का सामना करना पड़ा है, यह आप नहीं जानते। मेरे बहुत समझाने पर भी आपने शान्तिपूर्वक राज्य करते हुए मेरे बहनोई राजा दधिवाहन पर चढ़ाई कर दी। फलस्वरूप वे जंगल में चले गए। रानी धारिणी का कोई पता ही नहीं है, उनकी लड़की को आपके किसी रथी ने यहाँ लाकर बाजार में बेचा। उसे कितनी बार अपमानित होना पड़ा, कितने कष्ट उठाने पड़े, यह आपको बिल्कुल मालूम नहीं है। आज उसके हाथ से परम तपस्वी भगवान् महावीर का पारणा हुआ है।

जिस राज्य के लिए आपने ऐसा अत्याचार किया, क्या वह आपके साथ जायगा? आपको निरपराध राजा दधिवाहन पर चढ़ाई करने, चम्पा की निर्दोष प्रजा को लूटने और मारकाट मचाने का क्या अधिकार था? मृगावती परम सती थी। उसका तेज इतना चमक रहा था कि शतानीक उसके विरुद्ध कुछ न बोल सका। अपनी भूल को स्वीकार करते हुए उसने कहा– मैंने राज्य के लोभ से चम्पा की निर्दोष प्रजा पर अत्याचार किया, यह स्वीकार करता हूँ, लेकिन तुम्हारी बहिन की लड़की से मेरी कोई शत्रुता न थी। दधिवाहन की तरह वह मेरी भी पुत्री है। अगर उसके विषय में मुझे कुछ भी मालूम होता तो उसे किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़ता। खैर, अब उसे यहाँ बुला लेना चाहिए।

शतानीक ने उसी समय सामन्तों को बुलाया और चन्दनबाला को सन्मान पूर्वक लाने की आज्ञा दी। सामन्त गण पालकी लेकर धनावह सेठ के घर पहुँचे और चन्दनबाला को शतानीक का सन्देश सुनाया। चन्दनबाला ने उत्तर दिया– मैं अब महलों में जाना [illegible] लिए आप मुझे क्षमा करें। मौसाजी और मौसीजी ने [illegible] जो अपना स्नेह प्रदर्शित किया

के लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूँ।

सामन्तों ने बहुत अनुनय विनय की किन्तु चन्दनबाला ने पाप से परिपूर्ण राजमहलों में जाना स्वीकार न किया। उसने सामन्तों को समझा बुझा कर वापिस कर दिया। सामन्तों के खाली हाथ वापिस लौट आने पर राजा और रानी ने चन्दनबाला को लाने के लिए स्वयं जाने का निश्चय किया।

राजा और रानी की सवारी बड़े बड़े सामन्त और उमरावों के साथ धनावह सेठ के घर चली। नगर में बात फैलने से बहुत से नागरिक और सेठ साहूकार भी सवारी के साथ हो लिए। सेठ के घर बहुत बड़ी भीड़ जमा हो गई। पास पहुँचने पर राजा और रानी सवारी से उतर गए।

चन्दनबाला के पास जाकर राजा ने कहा— बेटी! मुझ पापी को क्षमा करो। मैंने भयङ्कर पाप किए हैं। तुम्हारे सरीखी सती को कष्ट में डाल कर महान् अपराध किया है। तुम देवी हो। प्राणियों को क्षमा करने वाली तथा उनके पाप को धो डालने वाली हो। तुम्हारी कृपा से मुझ पापी का जीवन भी पवित्र हो जायगा इस लिए महल में पधार कर मुझे कृतार्थ करो।

चन्दनबाला ने दोनों को प्रणाम करके उत्तर दिया— आप मेरे पिता के समान पूज्य हैं। अपराध के कारण मैं आपको अनादरणीय नहीं समझ सकती। आपकी आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है, किन्तु आप स्वयं जानते हैं कि विचारों पर वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। जिन महलों में सदा लूटने खसोटने तथा निरपराधों पर अत्याचार करने का ही विचार होता है उसमें जाना मेरे लिए कैसे उचित हो सकता है। जहाँ का वातावरण मेरी भावना और विचारों के सर्वथा प्रतिकूल हो वहाँ मैं कैसे जाऊँ? आपके भेजे हुए सामन्त भी मेरे लिए आप ही के समान आदरणीय हैं।

मैं उन्हीं के कहने पर आ जाती किन्तु उस दूषित वातावरण में जाना मैंने ठीक नहीं समझा। चन्दनबाला ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा– आप ही बताइए! मेरे पिता का क्या अपराध था जिससे आपने चम्पा पर चढ़ाई की? यदि आप को चम्पा का लोभ था तो आप उस पर कब्जा कर लेते। मेरे पिता तो स्वयं ही उसे छोड़ कर चले गए थे। अगर सेना ने आपका सामना किया था तो यह सेना का अपराध था। निर्दोष प्रजा ने आपका क्या बिगाड़ा था जिससे उस पर अमानुषिक अत्याचार किया गया?

चन्दनबाला की बातों को शतानीक सिर नीचा किए चुप चाप सुन रहा था। उसके पास कोई उत्तर न था।

वह फिर कहने लगी– मैं यह नहीं कहना चाहती कि राजधर्म का त्याग किया जाय, किन्तु राजधर्म प्रजा की रक्षा करना है। उसका विनाश नहीं। क्या चम्पा को लूट कर आपने राजधर्म का पालन किया है? क्या आप को मालूम है कि आपकी सेना ने चम्पा के निवासियों पर कैसा अत्याचार किया है? वहाँ के निर्दोष नागरिकों के साथ कैसा पैशाचिक व्यवहार किया है? क्या आप नहीं जानते कि अन्धे सैनिकों को खुली छुट्टी दे देने पर क्या होता है? सभ्य नागरिकों को लूटना, खसोटना, मारना, काटना और उनकी बहू बेटियों का अपमान करना ऐसा कोई भी अत्याचार नहीं है जिससे वे हिचकते हों।

जब आपका एक रथी मुझे और मेरी माता को भी दुर्भावना से पकड़ कर जंगल में ले गया तो न मालूम प्रजा की बहू बेटियों के साथ कैसा व्यवहार हुआ होगा? मेरी माता वीराङ्गना थी, इस लिए सतीत्व की रक्षा के लिए उसने अपने प्राण त्याग दिए और उस रथी को सदा के लिए धार्मिक तथा सदाचारी बना दिया। जिस माता में इतने बलिदान की शक्ति न हो क्या उस पर अत्या-

धार होने देना ही राजधर्म है ?

चन्दनबाला के मुख से धारिणी की मृत्यु का समाचार सुन कर मृगावती को बहुत दुःख हुआ। वह शोक करने लगी कि मेरे पति के अत्याचार से पीड़ित हो कर कितनी माताओं को अपने सतीत्व की रक्षा के लिए प्राण त्यागने पड़े होंगे। कितनी अपने सतीत्व को खो बैठी होंगी। धिक्कार है ऐसी राज्यलिप्सा को। चन्दनबाला ने मृगावती को सान्त्वना देते हुए कहा– मेरी माता ने पवित्र उद्देश्य से प्राण दिए हैं। इस प्रकार प्राण देने वाले विरले ही होते हैं। उनके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो यह कह रही हूँ– जिस राजमहल में चलने के लिए मुझे कहा जा रहा है उसमें किए गए विचारों का परिणाम कैसा भयङ्कर है।

वह फिर कहने लगी– राजा का कर्तव्य है कि वह अपने नगर तथा देश में होने वाली घटनाओं से परिचित रहे। क्या आपको मालूम है कि आप के नगर में कौन दुखी है ? किस पर कैसा अत्याचार हो रहा है ? कैसा अनीतिपूर्ण व्यवहार खुल्लम खुल्ला हो रहा है ? आप ही की राजधानी में दास दासियों का क्रयविक्रय होता है। क्या आपने कभी इस नीच व्यापार पर ध्यान दिया है ? मैं स्वयं इसी नगर के चौराहे पर बिकी हूँ। मुझे एक वेश्या खरीद रही थी। मेरे इन्कार करने पर उसने बलपूर्वक ले जाना चाहा। बहुत से नागरिक भी उसकी सहायता के लिए तैयार हो गए। अकस्मात् बन्दरों के बीच में आ जाने से वेश्या का उद्देश्य पूरा न हुआ। नहीं तो अपने शील की रक्षा के लिए मुझे कौनसा उपाय अङ्गीकार करना पड़ता, यह कुछ नहीं कहा जा सकता।

भाग्य से रथी को बीस लाख सोनैये देकर सेठजी मुझे अपने घर ले आए। इन्होंने मुझे अपनी पुत्री के समान रक्खा और आज भगवान् महावीर का पारणा हुआ।

आप को इन सब बातों का कुछ भी पता नहीं। महल में बैठ कर आप प्रजा पर अत्याचार करने, उसकी गाढ़ी कमाई को लूट कर अपने भोगविलास में लगाने तथा निर्दोष जनता को सताने का विचार करते हैं, प्रजा के दुःख को दूर करने का नहीं। क्या यही राजधर्म है? क्या यही आपका कर्तव्य है? क्या कभी आप ने सोचा है कि पाप का फल हर एक को भोगना पड़ता है?

जिस महल में रहते हुए आपके विचार ऐसे गन्दे हो गए उसमें जाना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। इस लिए क्षमा कीजिए। यहाँ पर रह कर मुझे भगवान् महावीर के पारणे का लाभ प्राप्त हुआ। महलों में यह कभी नहीं हो सकता था।

रानी मृगावती शतानीक को समय समय पर हिंसाप्रधान कार्यों से बचने तथा प्रजा का पुत्र के समान पालन करने के लिए समझाया करती थी किन्तु उस समय वह न्याय और धर्म का उपहास किया करता था। चन्दनबाला के उपदेश का उस पर गहरा असर पड़ा। उत्तर में वह कहने लगा– हे सती! आपका कहना यथार्थ है। मैंने महान् पाप किए हैं। जनहत्या, मित्रद्रोह आदि बड़े से बड़ा पाप करने में भी मैंने सङ्कोच नहीं किया। मैं राजाओं का जन्म युद्ध, दमन, शासन और भोगविलास के लिए मानता था। मेरी ही अव्यवस्था के कारण आपकी माता को प्राण त्यागने पड़े और आपको महान् कष्ट उठाने पड़े। मैं इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ था कि मेरी आज्ञा का इस प्रकार दुरुपयोग होगा। मैंने चम्पा को लूटने की आज्ञा दी थी किन्तु स्त्रियों के लूटे जाने, उनका सतीत्व नष्ट होने आदि का मुझे बिल्कुल खयाल न था। मेरी आज्ञा की ओट में इस भयङ्कर अत्याचार के होने की बात मुझे आज ही मालूम पड़ी है। इसके लिए मैं ही अपराधी हूँ।

अगर मेरी नगरी में दास दासी के क्रय विक्रय की प्रथा न होती

तो आपको क्यों निकलना पड़ता ? अगर राजा दधिवाहन के जाते ही मैंने उनके परिवार का खयाल किया होता तो आपको इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता तथा आपकी माता को प्राण क्यों त्यागने पड़ते ? इन सब कार्यों के लिए दोष मेरा ही है। मुझे अपने किए पर पश्चात्ताप हो रहा है। उन पापों के लिए मैं लज्जित हूँ। यह कहते हुए शतानीक की आँखें डबडबा आईं। उसके हृदय में महान् दुःख हो रहा था।

चन्दनबाला ने शतानीक को सान्त्वना देते हुए कहा—पिताजी! पश्चात्ताप करने से पाप कम हो जाता है। आपकी आज्ञा से जिन व्यक्तियों का स्वत्व लूटा गया है, उनका स्वत्व वापस लौटा दीजिए। भविष्य में ऐसा पाप न करने की प्रतिज्ञा कर लीजिए, फिर आप पवित्र हो जाएंगे। आज से यह समझिए कि राज्य आपके भोग-विलास के लिए नहीं है किन्तु आप राज्य तथा प्रजा की रक्षा करने के लिए हैं। अपने को शासन करने वाला न मान कर प्रजा की रक्षा तथा उसकी सुखवृद्धि के लिए राज्य का भार उठाने वाला सेवक मानिए फिर राज्य आपके लिए पाप का कारण न होगा। अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों पर अत्याचार करने के लिए नहीं, किन्तु दीन दुखी जनों की रक्षा के लिए कीजिए। शतानीक ने चन्दनबाला की सारी बातें सिर झुका कर मान लीं।

इसके साथ साथ आप पुराने सब अपराधियों को क्षमा कर दीजिए। चाहे वह अपराध उन्होंने आपकी आज्ञा से किया हो या बिना आज्ञा के, किसी को दण्ड मत दीजिए। चन्दनबाला ने सब को अभय दान देने के उद्देश्य से कहा।

शतानीक ने उत्तर दिया—बेटी! मैं सभी को क्षमा करता हूँ किन्तु जिन अपराधियों ने कुलाङ्गनाओं का सतीत्व लूटा है, जिसके कारण आपकी माता को प्राण त्याग और आपको महान् कष्ट

सहन करने पड़े हैं, उन्हें क्षमा नहीं किया जा सकता। उनका अपराध अक्षम्य है।

चन्दनबाला ने कहा– जिस प्रकार आपका अपराध केवल पश्चात्ताप से शान्त हो गया इसी प्रकार दूसरे अपराधी भी पश्चात्ताप के द्वारा छुटकारा पा सकते हैं। अगर उनके अपराध को अक्षम्य समझ कर आप दण्ड देना आवश्यक समझते हैं तो आपका अपराध भी अक्षम्य है। दण्ड देने से वैर की वृद्धि होती है। इस प्रकार बंधा हुआ वैर जन्म जन्मान्तर तक चला करता है, इस लिए अब तक के सब अपराधियों को क्षमा कर दीजिए।

शतानीक साहस करके बोला–आप का कहना बिल्कुल ठीक है। मुझे भी दण्ड भोगना चाहिए। आप मेरे लिए कोई दण्ड निश्चित कर सकती हैं।

शतानीक को अपने अपराध के लिए दण्ड मांगते देख कर रथी का साहस बढ़ गया। वह सामने आकर कहने लगा– महाराज! धारिणी की मृत्यु और इस सती के कष्टों का कारण मैं ही हूँ। आप मुझे कठोर से कठोर दण्ड दीजिए जिससे मेरी आत्मा पवित्र बने।

रथी के इस कथन को सुन कर सभी लोग दंग रह गए, क्योंकि इस अपराध का दण्ड बहुत भयङ्कर था।

चन्दनबाला रथी के साहस को देख कर प्रसन्न होती हुई शतानीक से कहने लगी– पिताजी! अपराधी को दण्ड देने का उद्देश्य अपराध का बदला लेना नहीं होता किन्तु अपराधी के हृदय में उस अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करना होता है। बदला लेने की भावना से दण्ड देने वाला स्वयं अपराधी बन जाता है। अगर अपराधी के हृदय में अपराध के प्रति स्वयं घृणा उत्पन्न हो गई हो, वह उसके लिए पश्चात्ताप कर रहा हो और भविष्य में ऐसा न करने का निश्चय [illegible] फिर उसे दण्ड देने की आवश्यकता

नहीं रहती, इस लिए न आपको दण्ड लेने की आवश्यकता है न रथी पिता को। चन्दनबाला ने रथी के सुधरने का सारा वृत्तान्त सुनाया और राजा से कहा— मैं इनकी पुत्री हूँ। मेरे लिए ये, आप और सेठजी तीनों समान रूप से आदरणीय हैं। ये आपके भाई हैं।

शतानीक रथी के साहस पर आश्चर्य कर रहा था। चन्दनबाला के उपदेश ने उसमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी। वह रथी के पास गया और उसे छाती से लगा कर कहने लगा— आज से तुम मेरे भाई हो। मैं तुम्हारे समस्त अपराध क्षमा करता हूँ।

राजा और एक अपराधी के इस भाईचारे को देख कर सारी जनता आनन्द से गद्गद हो उठी।

शतानीक ने चन्दनबाला से फिर प्रार्थना की— बेटी! महल तो निर्जीव हैं, इस लिए उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं हो सकता। दोष तो मुझ में था, उसी के कारण सारा वातावरण दूषित बना हुआ था। जब आपने मुझे पवित्र कर दिया तो महल अपने आप पवित्र होगए, इस लिए अब आप वहाँ पधारिए। आपके पधारने से वातावरण और पवित्र हो जाएगा।

चन्दनबाला ने सेठ से अनुमति लेकर जाना स्वीकार कर लिया। सेठ के आग्रह से राजा, रानी, रथी और रथी की स्त्री ने उसके घर भोजन किया। चन्दनबाला ने तेले का पारणा किया।

राजा, रानी, सेठ, सेठानी, रथी और रथी की स्त्री के साथ चन्दनबाला महल को रवाना हुई। नगर की सारी जनता सती का दर्शन करने के लिए उमड पड़ी। चन्दनबाला योग्य स्थान पर खड़ी रह कर जनता को उपदेश देती हुई राजद्वार पर आ पहुँची। चन्दनबाला के पहुँचते ही महलों में धार्मिक वातावरण छा गया। जहाँ पहले लूटमार और व्यभिचार की बातें होती थीं, वहाँ अब धर्मचर्चा होने लगी।

शतानीक अब दधिवाहन को अपना मित्र मानने लगा था। उसके प्रति किए गए अपराध से मुक्त होने के लिए चम्पा का राज्य उसे वापिस सौंपना चाहता था। उसने दधिवाहन को खोज कर सन्मानपूर्वक लाने के लिए आदमी भेजे।

शतानीक के आदमी खोजते हुए दधिवाहन के पास पहुँचे। उसे नम्रतापूर्वक सारा वृत्तान्त सुनाया। फिर शतानीक की ओर से चलने के लिए प्रार्थना की। धारिणी की मृत्यु सुन कर दधिवाहन को बहुत दुःख हुआ, साथ ही चन्दनबाला के आदर्श कार्यों से प्रसन्नता। वह वन में रह कर त्यागपूर्वक अपना जीवन बिताना चाहता था। राज्य के भार को दुबारा अपने ऊपर न लेना चाहता था फिर भी शतानीक के सामन्तों का बहुत आग्रह होने के कारण शतानीक द्वारा भेजे हुए वाहन पर बैठ कर वह कौशाम्बी की ओर चला।

राजा दधिवाहन का स्वागत करने के लिए कौशाम्बी को विविध प्रकार से सजाया गया। उनके आने का समाचार सुन कर हर्षित होता हुआ शतानीक अपने सामन्त सरदारों के साथ अगवानी करने के लिए सामने गया। समीप आने पर दोनों अपनी अपनी सवारी से उतर गए। शतानीक दधिवाहन के पैरों में गिर कर अपने अपराधों के लिए बार बार क्षमा मांगने लगा। दधिवाहन ने उसे उठा कर गले से लगाया और सारी घटनाओं को कर्मों की विडम्बना बता कर उसे शान्त किया। दोनों शत्रुओं में चिर काल के लिए प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसमें शतानीक या दधिवाहन की विजय न थी किन्तु शत्रुता पर मित्रता की और पाप पर धर्म की विजय थी।

सती चन्दनबाला के पिता राजा दधिवाहन के आगमन की बात भी छिपी न रही। उनका दर्शन करने के लिए आई हुई जनता से सारा मार्ग भर गया। दधिवाहन और शतानीक को

एक साथ आते देख कर जनता जयनाद करने लगी।

महल में पहुँच कर शतानीक ने दधिवाहन को ऊँचे सिंहासन पर बैठाया। प्रसन्न होती हुई चन्दनबाला पिता से मिलने आई। पास आकर उसने विनय पूर्वक प्रणाम किया। चन्दनबाला को देखकर दधिवाहन गद्गद् हो उठा। कण्ठ रुँध जाने से वह एक भी शब्द न बोल सका। साथ में उसे लज्जा भी हुई कि जिस वसुमती को वह असहाय अवस्था में छोड़ कर चला गया था उसने अपने चरित्र बल से सब को सुधार दिया। धारिणी के प्राण त्याग और चन्दनबाला की दृढ़ता के सामने वह अपने को तुच्छ मानने लगा।

शतानीक को राज्य से घृणा हो गई थी, इस लिए उसने दधिवाहन से कहा– मैंने अब तक अन्यायपूर्ण राज्य किया है। न्याय से राज्य कैसे किया जाता है, यह मैं नहीं जानता, इस लिए आप चम्पा और कौशाम्बी दोनों राज्यों को सम्भालिए। मैं आपके नीचे रह कर प्रजा की सेवा करना सीखूँगा।

दधिवाहन ने उत्तर दिया– न्यायपूर्ण शासन करने के लिए हृदय पवित्र होना चाहिए। भावना के पवित्र होने पर ढग अपने आप आ जाता है। मैं वृद्ध हो गया हूँ इस लिए दोनों राज्य आप ही सम्भालिए।

जिस राज्य के लिए घोर अत्याचार तथा महान् नरसंहार हुआ वही एक दूसरे पर इस प्रकार फेंका जा रहा था, जैसे दो खिलाड़ी परस्पर कन्दुक (गेंद) को फेंकते हैं। चन्दनबाला यह देख कर हर्षित हो रही थी कि धर्म की भावना किस प्रकार मनुष्य को राक्षस से देवता बना देती है।

अन्त में चन्दनबाला के कहने पर यह निर्णय हुआ कि दोनों को अपना अपना राज्य स्वयं सम्भालना चाहिए। दोनों राज्यों का भार किसी एक पर न पड़ना चाहिए।

बड़े समारोह के साथ दधिवाहन का राज्याभिषेक हुआ। दधिवाहन को दुबारा प्राप्त कर चम्पा की प्रजा को इतना हर्ष हुआ जितना बिछुड़े हुए पिता को पाकर पुत्र को होता है। कौशाम्बी और चम्पा दोनों राज्यों का स्थायी सम्बन्ध हो गया। किसी के हृदय में वैर और शत्रुता की भावना नहीं रही। सब जगह अखण्ड प्रेम और शान्ति स्थापित हो गई। सती चन्दनबाला ने चम्पा के उद्धार के साथ साथ सारे संसार के सामने प्रेम और सतीत्व का महान् आदर्श स्थापित कर दिया।

शतानीक और दधिवाहन में इतना प्रेम हो गया था कि उन दोनों में से कोई एक दूसरे से अलग होना नहीं चाहता था। चम्पा का अधिपति होने पर भी दधिवाहन प्रायः कौशाम्बी में ही रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसे चन्दनबाला के विवाह की चिन्ता हुई। शतानीक और मृगावती ने भी चन्दनबाला का विवाहोत्सव देखने की इच्छा प्रकट की, फिर भी उससे बिना पूछे वे कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे। एक दिन मृगावती ने दधिवाहन और शतानीक की उपस्थिति में चन्दनबाला के सामने विवाह का प्रस्ताव रक्खा। चन्दनबाला आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पहले ही निश्चय कर चुकी थी। उसके मन में और भी उच्च भावनाएं थीं। इस लिए उसने मृगावती के प्रस्ताव का नम्रतापूर्वक ऐसा विरोध किया जिससे उन तीनों में से कोई कुछ न बोल सका। सब सुख साधनों के होते हुए यौवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य पालन की कठोर प्रतिज्ञा का उन तीनों पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने भी यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया।

राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए चम्पा में रहना आवश्यक समझ कर कुछ दिनों बाद दधिवाहन चम्पा चला गया किन्तु चन्दनबाला कौशाम्बी में ही ठहर गई। भगवान् महावीर को

केवलज्ञान होने पर वह उनके पास दीक्षा लेना चाहती थी।

कुछ दिनों बाद वह अवसर उपस्थित हो गया जिसके लिए चन्दनबाला प्रतीक्षा कर रही थी। श्रमण भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। संसार का कल्याण करने के लिए वे ग्रामानुग्राम विचरने लगे। चन्दनबाला को भी यह समाचार मिला। उसे इतना आनन्द हुआ जितना प्यासे चातक को वर्षा के आगमन पर होता है। शतानीक और मृगावती से आज्ञा लेकर वह भगवान् के पास दीक्षा लेने के लिए चली। कौशाम्बी की जनता ने आँखों में आँसू भर कर उसे विदा दी। चन्दनबाला ने सभी को भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। कौशाम्बी से रवाना होकर वह भगवान् के समवसरण में पहुँच गई। देशना के अन्त में उसने अपनी इच्छा प्रकट की। सांसारिक दुःखों से छुटकारा देने के लिए भगवान् से प्रार्थना की।

भगवान् ने चन्दनबाला को दीक्षा दी। स्त्रियों में सर्व प्रथम दीक्षा लेने वाली चन्दनबाला थी। उसी से साध्वी रूप तीर्थ का प्रारम्भ हुआ था, इस लिए भगवान् ने उसे साध्वी संघ की नेत्री बनाया।

यथासमय मृगावती ने भी दीक्षा ले ली। वह चन्दनबाला की शिष्या बनी। धीरे धीरे काली, महाकाली, सुकाली आदि रानियों ने भी चन्दनबाला के पास संयम अङ्गीकार कर लिया। छत्तीस हजार साध्वियों के संघ की मुख्या बन कर वह लोक कल्याण के लिए ग्रामानुग्राम विचरने लगी। उसके उपदेश से अनेक भव्य प्राणियों ने प्रतिबोध प्राप्त किया तथा श्रावक या साधु के व्रतों को अंगीकार कर जन्म सफल किया। बहुत लोग मिथ्यात्व को छोड़ कर सत्य धर्म पर श्रद्धा करने लगे।

एक बार श्रमण भगवान् महावीर विचरते हुए कौशाम्बी पधारे। चन्दनबाला का भी अपनी शिष्याओं के साथ वहीं आगमन हुआ।

एक दिन मृगावती अपनी गुरुआनी सती चन्दनबाला की आज्ञा लेकर भगवान् के दर्शनार्थ गई। वापिस लौटते समय रास्ते में भीड़ होने के कारण उसे बहुत देर खड़ी रहना पड़ा। इतने में रात हो गई। मृगावती अँधेरा होजाने पर उपाश्रय में पहुँची। वहाँ आकर उसने चन्दनबाला को वन्दना की। प्रवर्तिनी होने के कारण उसे उपालम्भ देते हुए चन्दनबाला ने कहा– साध्वियों को सूर्यास्त के बाद उपाश्रय के बाहर न रहना चाहिए।

मृगावती अपना दोष स्वीकार करके उसके लिए पश्चात्ताप करने लगी। समय होने पर चन्दनबाला तथा दूसरी साध्वियाँ अपने अपने स्थान पर सो गई, किन्तु मृगावती बैठी हुई पश्चात्ताप करती रही। धीरे धीरे उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। उसे केवलज्ञान होगया।

अँधेरी रात थी। सब सतियाँ सोई हुई थीं। उसी समय मृगावती ने अपने ज्ञान द्वारा एक काला साँप देखा। चन्दनबाला का हाथ साँप के मार्ग में था। मृगावती ने उसे अलग कर दिया। हाथ के छूए जाने से चन्दनबाला की नींद खुल गई। पूछने पर मृगावती ने साँप की बात कह दी और निद्रा भंग करने के लिए क्षमा माँगी।

चन्दनबाला ने पूछा– अँधेरे में आपने साँप को कैसे देख लिया?

मृगावती ने उत्तर दिया– आपकी कृपा से मेरे दोष नष्ट हो गए हैं, इस लिए ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई है।

चन्दनबाला– पूर्ण या अपूर्ण?

मृगावती–आपकी कृपा होने पर अपूर्णता कैसे रह सकती है?

चन्दनबाला–तब तो आपको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। बिना जाने मुझसे आपकी आशातना हुई है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

चन्दनबाला ने मृगावती को वन्दना की। केवली की आशातना के लिए वह पश्चात्ताप करने लगी। उसी समय उसके घाती कर्म नष्ट हो गए। केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ

और सर्वदर्शी बन गई।

केवलज्ञानी होनेके बाद सती चन्दनबाला और सती मृगावती विचर विचर कर जनता का कल्याण करने लगीं। सती चन्दनबाला की छत्तीस हजार साध्वियों में से एक हजार चार सौ साध्वियों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

आयुष्य पूरी होनेपर एक हजार चार सौ साध्वियाँ आठ कर्मों को खपा कर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गईं।

चन्दनबाला को धारिणी का उपदेश

शान्ति-समर में कभी भूल कर धैर्य नहीं खोना होगा ।
वज्र-प्रहार भले हो सिर पर किन्तु नहीं रोना होगा ॥
अरि से बदला लेने का मन बीज नहीं बोना होगा ।
घर में कात तूल दकर फिर तुझे नहीं सोना होगा ॥
देश-दाग को रुधिर-वारि से हर्षित हो धोना होगा ।
देश-कार्य की भारी गठड़ी सिर पर रख ढोना होगा ॥
आँखें लाल, भवें टेढ़ी कर क्रोध नहीं करना होगा ।
बलि-वेदी पर तुझे हर्ष से चढ़ कर कट मरना होगा ॥
नश्वर है नर-देह, मौत से कभी नहीं डरना होगा ।
सत्य मार्ग को छोड़ स्वार्थ-पथ पर पैर नहीं धरना होगा ॥
होगी निश्चय जीत धर्म की, यही भाव भरना होगा ।
मातृभूमि के लिये, हर्ष से जीना या मरना होगा ॥

(पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानों में आए हुए सती चन्दनबाला चरित्र के आधार पर।)

(४) राजीमती

रघुवंश तथा यदुवंश भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के उत्पत्तिक्षेत्र थे। उन्हीं का वर्णन करके संस्कृत कवियों ने अपनी लेखनी को अमर बनाया। उन्हीं दो गिरिशृङ्गों से भारतीय साहित्य गंगा के दिव्य स्रोत बहे।

जिस प्रकार रघुवंश के साथ अयोध्या नगरी का अमर सम्बन्ध है उसी प्रकार यदुवंश के साथ द्वारिका नगरी का। रघुवंश में राम सरीखे महापुरुष और सीता सरीखी महासतियाँ हुई और यदुवंश का मस्तक भगवान् अरिष्टनेमि तथा महासती राजीमती सरीखी महान् आत्माओं के कारण गौरवोन्नत है।

उसी यदुवंश में अन्धकवृष्णि और भोजवृष्णि नाम के दो प्रतापी राजा हुए। अन्धकवृष्णि शौरिपुर में राज्य करते थे और भोजवृष्णि मथुरा में। महाराज अन्धकवृष्णि के समुद्रविजय, वसुदेव आदि दस पुत्र थे जिन्हें दशार्ह कहा जाता था। उनमें से सब से बड़े महाराज समुद्रविजय के पुत्र भगवान् अरिष्टनेमि हुए। इनकी माता का नाम शिवादेवी था। महाराज वसुदेव के पुत्र कृष्ण वासुदेव हुए। इनकी माता का नाम देवकी था। भोजवृष्णि के एक भाई मृत्तिकावती नगरी में राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम देवक था। देवकी इनकी पुत्री थी। भोजवृष्णि के पुत्र महाराज उग्रसेन हुए। उग्रसेन की रानी धारिणी के गर्भ से राजीमती का जन्म हुआ था। राजीमती रूप, गुण और शील सभी में अद्वितीय थी।

धीरे धीरे वह विवाह योग्य हुई। माता पिता को योग्य वर की चिन्ता हुई। वे चाहते थे, राजीमती जैसी सुशील तथा सुन्दर है उसके लिए वर खोजना चाहिए। इसके लिए उन्हें

नेमिकुमार के सिवाय कोई व्यक्ति उपयुक्त नहीं जान पड़ता था किन्तु नेमिकुमार विवाह ही न करना चाहते थे। बचपन से ही उन का मन संसार से विरक्त था। यादवों के भोगविलास उन्हें अच्छे न लगते थे। हिंसा पूर्ण कार्यों से स्वाभाविक अरुचि थी। इस कारण महाराज उग्रसेन को चिन्ता हो रही थी कि कहीं राजीमती का विवाह उसके अननुरूप वर से न करना पड़े।

महाराज समुद्रविजय और महारानी शिवा देवी भी नेमिकुमार का विवाहोत्सव देखने के लिये उत्कण्ठित थे किन्तु नेमिकुमार की स्वीकृति के बिना कुछ न कर सकते थे। एक दिन उन्होंने नेमि कुमार से कहा– वत्स ! हम यह अच्छा तरह जानते हैं कि आप तीर्थङ्कर होने वाले हैं। तीर्थङ्करों का जन्म जगत्कल्याण के लिये ही होता है। यह हर्ष की बात है कि आप के द्वारा मोह में फँसे हुए भव्य प्राणियों का उद्धार होगा। किन्तु आप से पहले भी बहुत से तीर्थङ्कर हो चुके हैं, उन्होंने विवाह किया था, राज्य किया था और फिर संसार त्याग कर मोक्ष मार्ग को अपनाया था। हम यह नहीं चाहते कि आप सारी उम्र गृहस्थ जीवन में फँसे रहें। हमारे चाहने से ऐसा हो भी नहीं सकता क्योंकि आप तीर्थङ्कर हैं। भव्य प्राणियों का उपकार करने के लिए उनके शुभ कर्मों से प्रेरित होकर आप अवश्य संसार का त्याग करेंगे। किन्तु यह कार्य आप विवाह के बाद भी कर सकते हैं। हमारी अन्तिम अभिलाषा है कि हमें आपका विवाहोत्सव देखने का अवसर प्राप्त हो। क्या माता पिता व इस सुख स्वप्न को आप पूरा न करेंगे ?

कुमार नेमिनाथ अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ सिर नीचा किए माता पिता की बातें सुनते रहे। वे मन में सोच रहे थे कि संसार में कितना अज्ञान फैला हुआ है। भोले प्राणी अपनी सन्तान को विवाह बन्धन में डालने के लिए कितने उत्सुक रहते

हैं ? उसे ब्रह्मचर्य के उच्च आदर्श से गिराने में कितना सुख मानते हैं ? इनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य जीवन जीवन ही नहीं है। संसार में समझदार और बुद्धिमान् कहे जाने वाले मनुष्य भी ऐसे विचारों से घिरे हुए हैं। मेरे लिए इस विचारधारा में बह जाना श्रेयस्कर नहीं है। मैं दुनिया के सामने त्याग और ब्रह्मचर्य का उच्च आदर्श रखना चाहता हूँ किन्तु इस समय माता पिता की आज्ञा का उल्लघन करना या मान लेना दोनों मार्ग ठीक नहीं हैं। यह सोच कर उन्होंने बात को टालने के अभिप्राय से कहा– आप लोग धैर्य रक्खें। अभी विवाह का अवसर नहीं है। अवसर आने पर देखा जाएगा। समुद्रविजय और शिवादेवी इसके आगे कुछ न बोल सके। वे उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जिस दिन कुमार नेमिनाथ दूल्हा बनेंगे। सिर पर मौर बाँध कर विवाह करने जावेंगे।

समुद्रविजय और शिवादेवी कुमार नेमिनाथ से विवाह की स्वीकृति लेने का प्रयत्न कई बार कर चुके थे किन्तु कुमार सदा टालमटोल कर दिया करते थे। अन्त में उन्होंने श्रीकृष्ण से सहायता लेने की बात सोची। एक दिन उन्हें बुला कर कहा- वत्स! तुम्हारे छोटे भाई अरिष्टनेमि पूर्ण युवक हो गए हैं। वे अभी तक अविवाहित ही हैं। हमने उन्हें कई बार समझाया किन्तु वे नहीं मानते। तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव का भाई अविवाहित रहे यह शोभा नहीं देता। इस विषय में आप भी कुछ प्रयत्न कीजिए।

श्रीकृष्ण ने प्रयत्न करने का वचन देकर समुद्रविजय और शिवादेवी को सान्त्वना दी। इसके बाद वे अपने महल में आकर कोई उपाय सोचने लगे। उन्हें विचार में पड़ा देख कर सत्यभामा ने चिन्ता का कारण पूछा। विवाह सम्बन्धी बातों में स्त्रियाँ विशेष चतुर होती हैं, यह सोच कर श्रीकृष्ण ने सारी बात कह दी।

उन दिनों ... थी। वृक्ष नए फूल और पत्तों

थे। सुगन्धित समीर युवक हृदयों में मादकता का सञ्चार कर रहा था। सत्यभामा ने वसन्तोत्सव मनाकर उसी में श्रीनेमिकुमार से विवाह की स्वीकृति लेने का निश्चय किया।

रैवत गिरि अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिए अनुपम है। उसी पर वसन्तोत्सव मनाने का निश्चय किया गया। धूमधाम से तैयारियाँ शुरू हुई। श्रीकृष्ण, बलदेव आदि सभी यादव अपनी पत्नियों के साथ रैवत गिरि पर चले। नेमिकुमार को भी श्रीकृष्ण ने आग्रह पूर्वक अपने साथ ले लिया। मार्ग में सत्यभामा वगैरह कृष्ण की रानियाँ नेमिकुमार से विविध प्रकार से मजाक करके उन्हें सांसारिक विषयों की ओर खींचने का निष्फल प्रयत्न कर रही थीं। नेमिकुमार के हृदय पर उन बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ रहा था। वे मन ही मन मोह की विडम्बना पर विचार कर रहे थे। रैवत गिरि पर पहुँच कर सभी स्त्री पुरुष वसन्तोत्सव मनाने लगे। विविध प्रकार की क्रीडा करती हुई कृष्ण की रानियाँ नेमिकुमार के सामने कामोत्तेजक चेष्टाएं करने लगीं। बीच बीच में वे पूछती जाती थीं–देवर जी! हमें आशा है अगले वसन्तोत्सव में आप भी पत्नीसहित होंगे। भगवान् नेमिनाथ उनकी चेष्टाओं और उक्तियों से विकृत होने वाले न थे। मोह में फँसे हुए प्राणियों की बातों पर मन ही मन विचार करते हुए उन्हें हँसी आ गई। कृष्ण की रानियों ने समझा, नेमिकुमार विवाह के लिए तैयार हो गए हैं। उसी समय यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि नेमिकुमार ने विवाह करना मञ्जूर कर लिया है। वसन्तोत्सव पूरा हुआ। सभी यादव लौट आए। श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार द्वारा विवाह की स्वीकृति का वृत्तान्त समुद्र विजय तथा शिवादेवी से कहा। उन्हें यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कृष्ण से फिर कहा– नेमिकुमार के लिए योग्य कन्या को ढूँढना भी आप ही का काम है, इसे भी आप ही पूरा कीजिए।

हम तो नेमिकुमार के विवाह का सारा भार आप पर डाल चुके हैं।

श्रीकृष्ण ने इस विषय में भी सत्यभामा से पूछा। राजीमती सत्यभामा की बहिन थी। उसकी दृष्टि में नेमिकुमार के लिए राजीमती के सिवाय कोई कन्या उपयुक्त न थी। राजीमती के लिए भी नेमिकुमार के सिवाय कोई योग्य वर न था। इसलिए सत्यभामा ने राजीमती के लिए प्रस्ताव रक्खा। श्रीकृष्ण, समुद्रविजय और शिवादेवी सभी को यह बात बहुत पसन्द आई।

राजीमती को माँगने के लिए स्वयं श्रीकृष्ण महाराजा उग्रसेन के पास गए। उन्होंने भी श्रीकृष्ण का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। महारानी धारिणी तथा राजीमती को भी इससे बहुत प्रसन्नता हुई। विवाह के लिये श्रावण शुक्ला षष्ठी का दिन निश्चित हुआ।

श्रीकृष्ण के लौटते ही महाराज समुद्रविजय ने विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं। सभी यादवों को आमन्त्रण भेजे गए। द्वारिका नगरी को सजाया गया। जगह जगह बाजे बजने लगे। मंगल गीत गाए जाने लगे। महाराज उग्रसेन यादवों के विशाल परिवार और उनकी ऋद्धि से परिचित थे। बरात का सत्कार करने के लिए उन्होंने भी विशाल आयोजन प्रारम्भ किया।

यादवों में उन दिनों मद्य और मांस का बहुत प्रचार था। बिना मांस के भोजन अधूरा समझा जाता था। उनका स्वागत करने के लिए मांस आवश्यक वस्तु थी। बरातियों के भोजन के लिए महाराज उग्रसेन ने भी अनेक पशु पक्षी एकत्रित किए। उन्हें विशाल बाड़े तथा पिंजरों में बन्द करके खिला पिला कर हृष्ट पुष्ट किया जाने लगा। मारे जाने वाले पशुओं का बाड़ा उसी रास्ते पर था जिधर से बरात आने वाली थी।

धीरे धीरे बरात के प्रस्थान का दिन आ गया। हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की चतुरंगिणी सेना सजाई गई। यादवगण बहु

मूल्य वस्त्राभूषण पहिन कर अपने अपने वाहन पर सवार हुए। प्रस्थान समय के मंगलवाद्य बजने लगे। गायक मंगल गीत गाने लगे। भगवान् अरिष्टनेमि को दूल्हे के रूप में सजाया जाने लगा। उन्हें विविध प्रकार की औषधियों तथा दूसरे पदार्थों से युक्त सुगन्धित पानी से स्नान कराया गया। उज्ज्वल वेश और आभूषण पहनाए गए। वर के वेश में नेमिकुमार कामदेव के समान सुन्दर और सूर्य के समान तेजस्वी मालूम पड़ने लगे। उन्हें देख कर समुद्रविजय और शिवादेवी के हर्ष का पार न था।

नेमिकुमार के बैठने के लिए श्रीकृष्ण का प्रधान गन्ध हस्ती रत्नजटित आभूषणों से सजाया गया। अनेक मंगलोपचारों के साथ वे हाथी पर विराजे। उन पर छत्र सुशोभित हो गया। चँवर डुलाए जाने लगे।

बरात में सब से आगे चतुरंगिणी सेना बाजा बजाते हुए चल रही थी। उसके पीछे मंगल गायक और बन्दीजनों का समूह था। इसके बाद हाथी और घोड़ों पर प्रमुख अतिथि अर्थात् पाहुने सवार थे। उनके पीछे कुमार नेमिनाथ का हाथी था। दोनों ओर घोड़ों पर सवार अंगरक्षक थे। सब से पीछे समुद्रविजय, वसुदेव, श्रीकृष्ण आदि यादव नरेश और सेना थी। शुभमुहूर्त में मंगलाचार के बाद बरात ने प्रस्थान किया। झूमते हुए मतवाले हाथियों, हिनहिनाते हुए घोड़ों, गूँजते हुए नगारों और फहराते हुए भण्डों के साथ पृथ्वी को कम्पित करती हुई बरात मथुरा की ओर रवाना हुई।

जब बरात मथुरा के पास पहुँच गई, महाराज उग्रसेन अपने परिवार तथा सेना के साथ अगवानी (सामेला) करने के लिए आए।

राजीमती के हृदय में अपार हर्ष हो रहा था। सखियाँ उसका शृङ्गार कर रही थीं। वे उससे विविध प्रकार का मजाक कर रही थीं। इतने में राजीमती की दाहिनी आँख फड़कने लगी। साथ में

दूसरे दाहिने अङ्ग भी फड़कने शुरू हुए। मनुष्य को जितना अधिक हर्ष होता है वह विघ्नों के लिए उतना ही अधिक शङ्काशील रहता है। राजीमती के हृदय में भी किसी अज्ञात भय ने स्थान कर लिया। उसने अङ्ग फड़कने की बात सखियों से कही। सखियों ने कई प्रकार से समझाया किन्तु राजीमती के हृदय से सन्देह दूर न हुआ।

धन, शारीरिक बल या बुद्धि मात्र से कोई महापुरुष नहीं बनता। वास्तविक बड़प्पन का सम्बन्ध आत्मा से है। जिस व्यक्ति की आत्मा जितनी उन्नत तथा बलवान् है वह उतना ही बड़ा है। दूसरे के दुःखों को अपना दुःख समझना, प्राणी मात्र से मित्रता रखना, हृदय में सरलता तथा सहृदयता का वास होना महापुरुषों के लक्षण हैं। महापुरुष सांसारिक भोगों में नहीं फँसते।

भगवान् अरिष्टनेमि की बरात तोरणद्वार की ओर आ रही थी। धीरे धीरे उस बाड़े के सामने पहुँच गई जिसमें मारे जाने वाले पशु पक्षी बँधे थे। बन्धन में पड़ने के कारण वे विविध प्रकार से करुण क्रन्दन कर रहे थे। सारी बरात निकल गई किन्तु किसी का ध्यान उन दीन पशुओं की ओर न गया। सांसारिक भोगों में अन्धे बने हुए व्यक्ति दूसरे के सुख दुःख को नहीं देखते। अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए वे सारी दुनिया को भूल जाते हैं।

क्रमशः कुमार नेमिनाथ का हाथी बाड़े के सामने आया। पशुओं का विलाप सुन कर उनका हृदय करुणा से भर गया।

भगवान् ने सारथी से पूछा– इन दीन पशुओं को बन्धन में क्यों डाला गया है?

सारथी ने उत्तर दिया– प्रभो! ये सब महाराज उग्रसेन ने आप के विवाह में भोज देने के लिए इकट्ठे किए हैं। यादवों का भोजन मांस के बिना पूरा नहीं होता।

भगवान् ने [illegible] होते हुए कहा– मेरे विवाह में मांस

भोजन! जिह्वा की क्षणिक तृप्ति के लिए इतनी बड़ी हत्या! मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए कितना अन्धा हो जाता है? अपनी क्षणिक लालसा के लिए हजारों प्राणियों का जीवन लेते हुए भी नहीं हिचकता। भला इन दीन अनाथ पशुओं ने किसी का क्या बिगाड़ा है? फिर इन्हें बन्धन में क्यों डाला जाय? इनके प्राण क्यों लिए जायँ? क्या मनुष्य को अपनी इच्छातृप्ति के लिए दूसरों के प्राण लेने का अधिकार है? क्या यह न्याय है कि सबल निर्बल के प्राण ले ले? क्या यह मानवता है? नहीं, यह मानवता के नाम पर अत्याचार है। भयङ्कर अन्याय है। मेरा जीवन संसार में न्याय और सत्य की स्थापना के लिए है। फिर मैं अपने ही निमित्त से होने वाले इस अन्याय का अनुमोदन कैसे कर सकता हूँ? मैं अहिंसाधर्म की प्ररूपणा करने वाला हूँ, फिर हिंसा को श्रेयस्कर कैसे मान सकता हूँ?

भगवान् की इच्छा देख कर सारथी ने सभी प्राणियों को बन्धन मुक्त कर दिया। आनन्दित होते हुए पक्षी आकाश में उड़ गए। पशु वन की ओर भागे। भगवान् द्वारा अभयदान मिलने पर उन के हर्ष का पारावार न रहा।

भगवान् ने प्रसन्न होकर अपने बहुमूल्य आभूषण सारथी को पारितोषिक में दे दिए और कहा—सखे! हाथी को वापिस ले चलो। जिसके लिए इस प्रकार का महारम्भ हो ऐसा विवाह मुझे पसन्द नहीं है। सारथी ने हाथी को वापिस मोड़ लिया। बरात बिना वर की हो गई। चारों ओर खलबली मच गई।

महल की खिड़की से राजीमती यह दृश्य देख रही थी। उसके हृदय की आशङ्का उत्तरोत्तर तीव्र हो रही थी। नेमिकुमार के हाथी को वापिस होते देख कर वह बेहोश होकर गिर पड़ी। दासियाँ और सखियाँ घबरा गई।

नेमिकुमार का हाथी वापिस जा रहा था। कृष्ण वासुदेव महाराज समुद्रविजय तथा यदुवंश के सभी बड़े बड़े व्यक्ति उन्हें समझाने आए किन्तु कुमार नेमिनाथ अपने निश्चय पर अटल थे। वे सांसारिक भोग विलासों को छोड़ने का निश्चय कर चुके थे। उन्होंने मार्मिक शब्दों में कहना शुरू किया–

मुझे राजीमती से द्वेष नहीं है। जो व्यक्ति संसार के सभी प्राणियों को सुखी बनाना चाहता है वह एक राजीमती को दुःख में कैसे डाल सकता है। किन्तु मोह में पड़े हुए संसार के भोले प्राणी यह नहीं समझते कि वास्तविक सुख कहाँ है। क्षणिक भोगों के दास बन कर इन्द्रियविषयों के गुलाम होकर वे तुच्छ वासनाओं की तृप्ति में ही सुख मानते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि ये ही इन्द्रिय विषय उनके लिए बन्धन स्वरूप हैं। परिणाम में बहुत दुःख देने वाले हैं।

संसार में दो प्रकार की वस्तुएं हैं– श्रेय और प्रेय। जो वस्तुएं इन्द्रियों और मन को प्रिय लगती हैं किन्तु परिणाम में दुःख देने वाली हैं वे प्रेय कही जाती हैं। जिनसे आत्मा का कल्याण होता है, इन्द्रियां और मन बाह्य विषयों की ओर जाने से रुक जाते हैं उन्हें श्रेय कहा जाता है। इन्द्रिय और मन के दास बने हुए भोले प्राणी प्रेय वस्तु को अपनाते हैं और अनन्त संसार में रुलाते हैं। इस के विपरीत विवेकी पुरुष श्रेय वस्तु को अपनाते हैं और उसके द्वारा मोक्ष के नित्य सुख को प्राप्त करते हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि की बातों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि एक हजार यादव संसार को बन्धन समझ कर उन्हीं के साथ दीक्षा लेने को तैयार होगए। श्रीकृष्ण और समुद्रविजय वगैरह प्रमुख यादव भी निरुत्तर होगए और उन्हें रोकने का प्रयत्न छोड़ कर अलग होगए। भगवान् नेमिनाथ सारी बरात को छोड़ कर अपने महल की ओर रवाना हुए।

भगवान् के जाते ही बरातियों की सारी उमंगें हवा हो गईं। सभी के चेहरे पर उदासी छा गई। चाँद के छिप जाने पर जो दशा रात्रि की होती है वही दशा नेमिनाथ के चले जाने पर बरात की हुई। महाराज उग्रसेन की दशा और भी विचित्र हो रही थी। उन्हें कुछ नहीं सूझ रहा था कि इस समय क्या करना चाहिए।

उस समय राजीमती के हृदय की दशा अवर्णनीय थी। नेमिकुमार के हाथी को अपने महल की ओर आते देख कर उसने सोचा था– मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ! त्रिलोकपूज्य भगवान् स्वयं मुझे वरने के लिए आरहे हैं। मैं यादवों की कुलवधू बनूँगी। महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी मेरे श्वसुर और सास होंगे। मुझ से बढ़ कर सुखी संसार में कौन है?

राजीमती अपने भावी सुखों की कल्पनाओं में मन ही मन खुश होरही थी, इतने में उसने नेमिकुमार को वापिस लौटते देखा। वह इस आघात को न सह सकी और मूर्छित होकर गिर पड़ी। चेतना आते ही सारा दुःख बाहर उमड़ आया। वह अपना सर्वस्व नेमिकुमार के चरणों में अर्पित कर चुकी थी, उन्हें अपना आराध्य देव मान चुकी थी। जीवन नैया की पतवार उनके हाथों में सौंप चुकी थी। उनके विमुख होने पर वह अपने को सूनी सी, निराधार सी, नाविक रहित नौका सी मानने लगी। जिस प्रकार सूर्य और दिन का सतत सम्बन्ध है, राजीमती उसी प्रकार नेमिकुमार और अपने सम्बन्ध को मान चुकी थी। सूर्य के बिना दिन के समान नेमिकुमार के बिना वह अपना कोई अस्तित्व नहीं समझती थी।

सखियाँ कहने लगीं–अभी कौनसा विवाह हो गया है? उन से भी अच्छा कोई दूसरा वर मिल जाएगा।

राजीमती ने उत्तर दिया– विवाह क्या होता है? क्या अग्नि प्रदक्षिणा देने से ही विवाह होता है? मेरा विवाह तो उसी दिन

हो चुका जिस दिन मैंने अपने हृदय में नेमिकुमार को पति मान लिया। उस दिन से मैं उनकी हो चुकी। उनके सिवाय सभी पुरुष मेरे लिए पिता और भाई के समान हैं। कुमार स्वय भी मुझे अपनी पत्नी बनाना स्वीकार करके ही यहाँ आए थे। मुझे इस बात का गौरव है कि उन्होंने मुझे अपनी पत्नी बनाने के योग्य समझा। संसार की सारी स्त्रियों को छोड़ कर मुझे ही यह सन्मान दिया।

यह भी मेरे लिए हर्ष की बात है कि वे संसार के प्राणियों को अभय दान देने के लिए ही वापिस गए हैं। अगर वे मुझे छोड कर किसी दूसरी कन्या से विवाह करने जाते तो मेरे लिए यह अपमान की बात होती किन्तु उन्होंने अपने उस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाह बन्धन में पड़ना उचित नहीं समझा। यह तो मेरे लिए अभिमान की बात है कि मेरे पति संसार का कल्याण करने के लिए जा रहे हैं। दु:ख केवल इतना ही है कि वे मुझे बिना दर्शन दिए चले गए। अगर विवाह हो जाने के बाद वे मुझे भी अपने साथ ले चलते और मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होते हुए मुझे भी अपने साथ रखते तो कितना अच्छा होता। क्या मैं उनके पथ में बाधा डालती ? किन्तु नेमिकुमार एक बार मुझे अपना चुके हैं। अपने चरणों में शरण दे चुके हैं। महापुरुष जिसे एक बार शरण दे देते हैं फिर उसे नहीं छोड़ते। नेमिकुमार भी मुझे कभी नहीं छोड सकते। संसार के प्राणियों को दु:ख से छुड़ाने के लिए उन्होंने सभी भौतिक सुखों को छोड़ा है। ऐसी दशा में वे मुझे दु:ख में कैसे छोड सकते हैं ? मेरा अवश्य उद्धार करेंगे।

राजीमती में स्त्रीहृदय की कोमलता, महासती की पवित्रता और महापुरुषों सी वीरता का अपूर्व सम्मिश्रण था। उसकी विचार धारा कोमलता के साथ उठ कर दृढ़ता के रूप में परिणत हो गई। उसे पक्का [illegible] कि नेमिकुमार अवश्य आएंगे और

मेरा उद्धार करेंगे। भगवान् के गुणगान और उन्हीं के स्मरण में लीन रहती हुई वह उस दिन की प्रतीक्षा करने लगी।

भगवान् अरिष्टनेमि के छोटे भाई का नाम रथनेमि था। एक ही माता पिता के पुत्र होने पर भी उन दोनों के स्वभाव में महान् अन्तर था। नेमिनाथ जिन वस्तुओं को तुच्छ समझते थे रथनेमि उन्हीं के लिए तरसते थे। इन्द्रियों को तृप्त करना, सांसारिक विषयों का सेवन करना तथा कामभोगों को भोगना ही वे अपने जीवन का ध्येय मानते थे।

उन्होंने राजीमती के सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा सुन रक्खी थी। व चाहते थे कि राजीमती उन्हें ही प्राप्त हो किन्तु अरिष्टनेमि के साथ उसके विवाह का निश्चय हो जाने पर मन मसोस कर रह गए। अरिष्टनेमि विवाह नहीं करेंगे इस निश्चय को जान कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके हृदय में फिर आशा का संचार हुआ और राजीमती को प्राप्त करने का उपाय सोचने लगे।

इस कार्य के लिए रथनेमि ने एक दूती को राजीमती के पास भेजा। पुरस्कार के लोभ में पड़ कर दूती राजीमती के पास गई। एकान्त अवसर देख कर उसने रथनेमि की इच्छा राजीमती के सामने प्रकट की और विविध प्रकार से उसे सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट करके यह सम्बन्ध स्वीकार करने का आग्रह किया। उसने रथनेमि के सौन्दर्य, वीरता, रसिकता आदि गुणों की प्रशंसा की। विषयसुखों की रमणीयता का वर्णन किया और राजीमती से फिर कहा--आपको सब प्रकार के सुख प्राप्त हैं। शारीरिक सम्पत्ति है, लक्ष्मी है, प्रभुता है। रथनेमि सरीखे सुन्दर और सहृदय राज कुमार आपके दास बनने को तैयार हैं। मानव जीवन और सब प्रकार के सांसारिक सुखों को प्राप्त करके उन्हें व्यर्थ जाने देना बुद्धिमत्ता नहीं है। अतः इस प्रस्ताव को स्वीकार कीजिए और अनु-

मति देकर अपने और कुमार रथनेमि के जीवन को सुखमय बनाइए।

राजीमती को दूती की बात सुन कर आश्चर्य हुआ। दोनों भाइयों में इतना अन्तर देख कर वह चकित रह गई।

साधारण स्त्री होती तो दूती का प्रस्ताव मन्जूर कर लेती या अनिच्छा होने पर अपना क्रोध दूती पर उतारती। उसे डाटती, फटकारती, दण्ड देने तक तैयार हो जाती। किन्तु राजीमती सती होने के साथ साथ बुद्धिमती भी थी। उसकी दृष्टि में पापी पर क्रुद्ध होने की अपेक्षा प्रयत्नपूर्वक उसे सन्मार्ग में लाना श्रेयस्कर था। उसने सोचा- दूती को फटकारने से सम्भव है बात बढ़ जाय और उससे रथनेमि के सन्मान में बट्टा लगे। रथनेमि कुलीन पुरुष हैं। इस समय कामान्ध होने पर भी समझाने से सुमार्ग पर लाए जा सकते हैं। यह सोच कर उसने दूती से कहा-रथनेमि के इस प्रस्ताव का उत्तर मैं उन्हें ही दूँगी। इस लिए तुम जाओ और उन्हें ही भेज दो। साथ में कह देना कि वे अपनी पसन्द के अनुसार किसी पेय वस्तु को लेते आवें।

यद्यपि राजीमती ने यह उत्तर दूसरे अभिप्राय से दिया था, किन्तु दूती ने उसे अपने प्रस्ताव की स्वीकृति ही समझा। वह प्रसन्न होती हुई रथनेमि के पास गई और सारी बातें सुना दीं। रथनेमि ने भी उसे प्रस्ताव की स्वीकृति ही समझा।

रथनेमि ने सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहने। बड़ी उमङ्गों के साथ पेय वस्तु तैयार कराई। रत्न खचित स्वर्ण थाल में कटोरा रख कर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र से उसे ढक दिया। एक सेवक को साथ लेकर राजीमती के महल में पहुँचा। भावी सुखों की आशा में वह फूला न समाता था।

राजीमती ने रथनेमि का स्वागत किया। वह कहने लगी-आप का दर्शन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। दूती ने आपकी जैसी

प्रशसा की थी वे सभी गुण आप में मालूम पड रहे हैं। तब से उसने विवाह का प्रस्ताव रक्खा मैं आपकी प्रतीक्षा में थी।

राजीमती की बात सुनते समय रथनेमि के हृदय में उत्तरोत्तर अधिक आशा का सचार हो रहा था। वह समझ रहा था राजीमती ने मुझे स्वीकार कर लिया है। उसने उत्तर दिया–

राजकुमारी! मैंने आपके सौन्दर्य और गुणों की प्रशसा बहुत दिनों से सुन रक्खी थी। बहुत दिनों से मैंने आपको अपने हृदय की अधीश्वरी मान रक्खा था, किन्तु भाई के साथ आपके सम्बन्ध की बात सुन कर चुप होना पड़ा। मालूम पड़ता है मेरा भाग्य बहुत तेज है इसी लिए नेमिकुमार ने इस सम्बन्ध को नामञ्जूर कर दिया। निश्चय होने पर भी मैं एक बार आपके मुँह से स्वीकृति के शब्द सुनना चाहता हूँ, फिर विवाह में देर न होगी।

राजीमती मन ही मन सोच रही थी– कामान्ध व्यक्ति अपने सारे विवेक को खो बैठता है। मेरे बाह्य रूप पर आसक्त होकर ये अपने भाई के नाते का भी भूल रहे हैं। भगवान् के त्याग को ये अपना सौभाग्य मान रहे हैं। मोह की विडम्बना विचित्र है। इस के वश में पड़ कर मनुष्य भयङ्कर से भयङ्कर पाप करते हुए नहीं हिचकता। भगवान् के साथ मेरा विवाह हो जाने पर भी इनके हृदय से यह दुर्भावना दूर न होती और उसे पूर्ण करने के लिये ये किसी भी पाप से नहीं हिचकते।

राजीमती के कहने पर रथनेमि ने पेय वस्तु का कटोरा उसके सामने रख दिया और कहा– आपने बहुत ही तुच्छ वस्तु मँगवाई। मैं आपके लिये बड़ी से बड़ी वस्तु लाने के लिये तैयार हूँ।

राजीमती उस कटोरे को उठा कर पी गई साथ में पहले से पास रक्खी हुई उस दवा को भी खा गई जिसका प्रभाव तत्काल वमन था। कटोरे को पीते देख रथनेमि को पक्का विश्वास हो गया कि

राजीमती ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। वे मन ही मन बहुत खुश हो रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि राजीमती उसी कटोरे में वमन कर रही है। रथनेमि काँप उठे और आशङ्का करने लगे कि कहीं कटोरे में ऐसी वस्तु तो नहीं मिल गई जो हानिकारक हो।

वे इस प्रकार सोच ही रहे थे कि राजीमती ने वमन से भरा हुआ कटोरा उसके सामने किया और कहा– राजकुमार! लीजिए, इसे पी लीजिए।

वमन के कटोरे को देख कर रथनेमि पीछे हट गए। आँखें क्रोध से लाल हो गईं। ओठ फड़कने लगे। गरजते हुए कहने लगे– राजीमती! तुम्हें अपने रूप पर इतना घमण्ड है? किसी भद्र पुरुष को बुला कर तुम उसका अपमान करती हो? क्या मुझे कुत्ता या कौआ समझ रखा है जो वमन की हुई वस्तु पिलाना चाहती हो?

राजीमती ने उपदेश देने की इच्छा से कुमार को शान्त करते हुए कहा– राजकुमार! शान्ति रखिए। मैं आपके प्रेम की परीक्षा करना चाहती हूँ।

रथनेमि– क्या परीक्षा का यही उपाय है?

राजीमती– हाँ! यही उपाय है। यदि आप इसे पी जाते तो मैं समझती कि आप मुझे स्वीकार कर सकेंगे।

रथनेमि– क्या मैं वमन किया हुआ पदार्थ पी जाऊँ?

राजीमती– वमन किया हुआ पदार्थ है तो क्या हुआ? है तो वही जो आप लाए थे और जो आपको अत्यधिक प्रिय है। इसके रूप, रस या रंग में कोई फरक नहीं पड़ा है। केवल एक बार मेरे पेट तक जा कर निकल आया है।

रथनेमि– इससे क्या, है तो वमन ही?

राजीमती– मेरे साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले के लिए वमन पीना कठिन नहीं है।

रथनेमि– क्यों ?

राजीमती– जिस प्रकार यह पदार्थ मेरे द्वारा त्यागा हुआ है उसी प्रकार मैं आप के भाई द्वारा त्यागी हुई हूँ। जैसे मैं आप को प्रिय हूँ उसी प्रकार यह पदार्थ भी आप को बहुत प्रिय है। दोनों के समान होने पर भी इसे पीने वाले को आप कुत्ते या कौए के समान समझते हैं और मुझे अपनाते समय यह विचार नहीं करते।

राजीमती की युक्तिपूर्ण बातें सुन कर रथनेमि का सिर लज्जा से नीचे झुक गया। उसे मन ही मन पश्चात्ताप होने लगा।

राजीमती फिर कहने लगी – यादवकुमार ! मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव भेजते समय आपने यह विचार नहीं किया कि मैं आप के बड़े भाई की परित्यक्ता पत्नी हूँ। मोहवश आप मेरे साथ विवाह करने को तैयार हो गए। आप के बड़े भाई मेरा त्याग कर के चले गए इसे आपने अपना सौभाग्य माना। आप भी उन्हीं माता पिता के पुत्र हैं जिन के भगवान् स्वयं हैं, फिर सोचिए मोह ने आप को कितना नीचे गिरा दिया।

रथनेमि लज्जा से पृथ्वी में गड़े जा रहे थे। वे कहने लगे– राजकुमारी ! मुझे अपने कार्य के लिए बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। आपने उपदेश देकर मेरी आँखें खोल दीं।

रथनेमि चुपचाप राजीमती के महल से चले आए। उन के हृदय में लज्जा और ग्लानि थी। सांसारिक विषयों से उन्हें विरक्ति हो गई थी। उन्होंने सांसारिक बन्धनों को छोड़ने का निश्चय कर लिया।

राजीमती का भगवान् अरिष्टनेमि के साथ लौकिक दृष्टि से विवाह नहीं हुआ था। अगर वह चाहती तो रथनेमि या किसी भी योग्य पुरुष से विवाह कर सकती थी। इस के लिए उसे लोक में निन्दा का पात्र न बनना पड़ता फिर भी उसने किसी दूसरे पुरुष से विवाह नहीं किया। जीवन पर्यन्त कुमारी रहना स्वीकार कर

लिया, उसे ही अपना पति माना।

भगवान् अरिष्टनेमि तोरण द्वार से लौट कर अपने महल में चले आए। उसी समय तीर्थङ्करों की मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देव उन्हें चेताने के लिए आए और सेवा में उपस्थित होकर कहने लगे–प्रभो! संसार में पाप बहुत बढ़ गया है। लोग विषय वासनाओं में लिप्त रहने लगे हैं। बलवान प्राणी दुर्बलों को सता रहे हैं। जनता को हिंसा, स्वार्थ, विषयवासना आदि पाप प्रिय मालूम पड़ने लगे हैं। इस लिए प्रभो! धर्मतीर्थ की प्रवर्तना कीजिये जिससे प्राणियों को सच्चे सुख का मार्ग प्राप्त हो और पृथ्वी पर पाप का भार हल्का हो। भव्य प्राणी अपने कल्याण के लिए आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना सुन कर भगवान् ने वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर दिया।

रथनेमि को भी संसार से विरक्ति हो गई थी। भगवान् के साथ दीक्षा लेने की इच्छा से वे भगवान के दीक्षा दिवस की प्रतीक्षा करने लगे। दूसरे यादव भी जो भगवान के उपदेश से प्रभावित हो कर संसार छोड़ने को तैयार हो गए थे वे भी उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे।

महाराजा उग्रसेन को जब यह मालूम पड़ा कि अरिष्टनेमि वार्षिक दान दे रहे हैं और उसके अन्त में दीक्षा ले लेंगे तो उन्होंने राजीमती का विवाह किसी दूसरे पुरुष से करने का विचार किया। इस के लिए राजीमती की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

इस लिए महाराज उग्रसेन रानी के साथ राजीमती के पास गए। वे कहने लगे– बेटी! अब तुम्हें अरिष्टनेमि का ध्यान हृदय से निकाल देना चाहिए। उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया है। यह अच्छा ही हुआ कि विवाह होने के पहले ही वे वापिस चले

गए। विवाह के बाद तुम्हें त्याग देते या दीक्षा ले लेते तो सारे जीवन दुःख उठाना पड़ता। अब हम तुम्हारा विवाह किसी दूसरे राजकुमार से करना चाहते हैं। इस में नीति, धर्म या समाज की ओर से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। तुम्हारी क्या इच्छा है?

राजीमती– पिताजी! मेरा विवाह तो हो चुका है। हृदय से किसी को पति रूप में या पत्नीरूप में स्वीकार कर लेना ही विवाह है। उसके लिए बाह्य दिखावे की आवश्यकता नहीं है। बाह्य क्रियाएं केवल लोगों को दिखाने के लिए होती हैं। असली विवाह हृदय का सम्बन्ध है। मैं इस विवाह को कर चुकी हूँ। आर्य कन्या को आप दुबारा विवाह करने के लिये क्यों कह रहे हैं?

माता– बेटी! हम तुम्हें दूसरे विवाह के लिए नहीं कह रहे हैं। विवाह एक लौकिक प्रथा है और जब तक वह पूरी नहीं हो जाती, कन्या और वर दोनों अविवाहित माने जाते हैं, दुनिया उन्हें अविवाहित ही कहती है, इसी लिए तुम अविवाहिता हो।

राजीमती–दुनिया कुछ भी कहे। लौकिक रीति रिवाज भले ही मुझे विवाहिता न मानते हों किन्तु मेरा हृदय तो मानता है। मेरी अन्तरात्मा मुझे विवाहिता कह रही है। सांसारिक सुखों के प्रलोभन में पड़ कर अन्तरात्मा की उपेक्षा करना उचित नहीं है। मेरा न्याय मेरी अन्तरात्मा करती है, दुनिया की बातें नहीं।

माता– कुमार अरिष्टनेमि तोरण द्वार से लौट गए। उन्होंने तुम्हें अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं किया। फिर तुम अपने को उनकी पत्नी कैसे मानती हो?

राजीमती– मेरा निर्णय भगवान् अरिष्टनेमि के निर्णय पर अवलम्बित नहीं है। उन्होंने अपना निर्णय अपनी इच्छानुसार किया है। वे चाहे मुझे अपनी पत्नी समझें या न समझें किन्तु मैं उन्हें एक बार अपना पति मान चुकी हूँ। मेरे हृदय में अब दूसरे

पुरुष के लिए स्थान नहीं है। दूसरे के विचारों पर अपने हृदय को डावाँडोल करना कायरता है।

माता– नेमिकुमार (अरिष्टनेमि) तो दीक्षा लेंगे। क्या उन के पीछे तुम भी ऐसी ही रह जाओगी ?

राजीमती– माता जी! जब वे दीक्षा लेंगे तो मैं भी उन के मार्ग पर चलूँगी। पति कठोर संयम का पालन करे तो पत्नी को भोग विलासों में पड़े रहना शोभा नहीं देता। जिस प्रकार वे काम क्रोध आदि आत्मा के शत्रुओं को जीतेंगे उसी प्रकार मैं भी उन पर विजय प्राप्त करूँगी।

राजीमती के उत्तर के सामने माता पिता कुछ न कह सके। वे राजीमती की सखियों को उसे समझाने के लिए कह कर चले गए।

सखियों ने राजीमती को समझाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह अपने निश्चय पर अटल थी। उसका हृदय, उसकी बुद्धि, उसकी वाणी तथा उसके प्रत्येक रोम में नेमिकुमार समा चुके थे। वह उन के प्रेम में ऐसी रंग गई थी, जिस पर दूसरा रंग चढ़ना असम्भव था। वह दिन रात उन के स्मरण में रहती हुई वैरागिन की तरह समय बिताने लगी।

सती स्त्रियाँ अपने जीवन को पति के जीवन में, अपने अस्तित्व को पति के अस्तित्व में तथा अपने सुख को पति के सुख में मिला देती हैं। उनका प्रेम सच्चा प्रेम होता है। उस में वासना की मुख्यता नहीं रहती। राजीमती के प्रेम में तो वासना की गन्ध भी न थी। उसे नेमि कुमार द्वारा किसी सांसारिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई थी, न भविष्य में प्राप्त होने की आशा थी फिर भी वह उनके प्रेम की मतवाली थी। वह अपनी आत्मा को भगवान् अरिष्टनेमि की आत्मा से मिला देना चाहती थी। शारीरिक सम्बन्ध की उसे परवाह न थी।

शुद्ध प्रेम मनुष्य को ऊँचा उठाता है। एक व्यक्ति से शुरू हो

कर वह विश्वप्रेम में बदल जाता है। इसके विपरीत जिस प्रेम में स्वार्थ या वासना है वह उत्तरोत्तर सङ्कुचित होता जाता है और अन्त में स्वार्थ या वासना की पूर्ति न होते देख समाप्त हो जाता है। इस का असली नाम मोह है। मोह अन्धकारमय है और प्रेम प्रकाशमय। मोह का परिणाम दुःख और अज्ञान है, प्रेम का सुख और ज्ञान।

राजीमती के हृदय में शुद्ध प्रेम था। इस लिए भगवान् की आत्मा के साथ वह भी अपनी आत्मा को ऊँची उठाने का प्रयत्न कर रही थी। भगवान् के समान अपने प्रेम को बढाते हुए विश्व प्रेम में बदल रही थी।

धीरे धीरे एक वर्ष पूरा हो गया। भगवान् अरिष्टनेमि का वार्षिकदान समाप्त हुआ। इन्द्र आदि देव दीक्षामहोत्सव मनाने के लिये आए। श्रीकृष्ण तथा दूसरे यादवों ने भी खूब तैयारियाँ कीं। अन्त में श्रावण शुक्ला षष्ठी को भगवान् अरिष्टनेमि ने दीक्षा अङ्गीकार कर ली। जो दिन एक साल पहले उनके विवाह का था, वही आज संसार के सभी सम्बन्धों को छोड़ने का दिन बन गया। नेमिकुमार ने राजवैभव को छोड़ कर वन का रास्ता लिया। उनके साथ रथनेमि तथा दूसरे यादव कुमार भी दीक्षित हो गए।

भगवान् अरिष्टनेमि की दीक्षा का समाचार राजीमती को भी मालूम पड़ा। समाचार सुन कर वह विचार में पड़ गई कि अब मुझे क्या करना चाहिए। इस प्रकार विचार करते करते उसे जातिस्मरण हो गया। उसे मालूम पड़ा कि मेरा और भगवान् का प्रेम सम्बन्ध पिछले आठ भवों से चला आ रहा है। इस नवें भव में भगवान् का संयम अङ्गीकार करने का निश्चय पहले से था। मुझे प्रतिबोध देने की इच्छा से ही उन्होंने विवाह का आयोजन स्वीकार कर लिया था। अब मुझे भी शीघ्र संयम अङ्गीकार करके

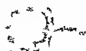
उनका अनुसरण करना चाहिए। इस निश्चय पर पहुँचने से उसके मुख पर प्रसन्नता छा गई। उसके हृदय का सारा खेद मिट गया।

राजीमती की माता उस समय फिर समझाने आई। राजीमती के दीक्षा लेने के निश्चय को जान कर उसने कहा-- बेटी! संयम का पालना सरल नहीं है। बड़े बड़े योद्धा भी इस के पालन करने में समर्थ नहीं होते। सरदी और गरमी में नंगे पाँव घूमना, भिक्षा में रूखा सूखा जैसा आहार मिल जाय उसी पर सन्तोष करना, भयङ्कर कष्ट पड़ने पर भी मन में क्रोध या ग्लानि न आने देना, शत्रु और मित्र सभी पर समभाव रखना, मानसिक विचारों पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। तुम्हारे सरीखी महलों में पली हुई कन्या उन्हें नहीं पाल सकती। बेटी! तुम्हें अपना निर्णय समझ कर करना चाहिए।

राजीमती ने उत्तर दिया-- माताजी! मैं अच्छी तरह सोच चुकी हूँ। संयमी जीवन के कष्टों का भी मुझे पूरा ज्ञान है किन्तु पति के मार्ग पर चलने में मुझे सुख ही मालूम पड़ता है। उनके बिना इस अवस्था में मुझे दुःख ही दुःख है। मेरे लिए केवल संयम ही सुख का मार्ग है, इस लिए आप दूसरी बातों को छोड़ कर मुझे दीक्षा अङ्गीकार करने की अनुमति दीजिए।

राजीमती की माता को विश्वास हो गया कि राजीमती अपने निश्चय पर अटल है। उसने सारी बातें महाराज उग्रसेन को कहीं। अन्त में यही निर्णय किया कि राजीमती को उसकी इच्छानुसार चलने देना चाहिए। उसके मार्ग में बाधा डाल कर उसकी आत्मा को दुखी न करना चाहिए।

राजीमती ने अपने उपदेश से बहुत सी सखियों तथा दूसरी महिलाओं में भी वैराग्य भावना भरदी। सात सौ स्त्रियाँ उसके साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गई।



भगवान अरिष्टनेमि को केवलज्ञान होते ही राजीमती ने सात सौ सखियों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। महाराज उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण ने उसका निष्क्रमण (दीक्षा या संसार त्याग) महोत्सव मनाया। राजकुमारी राजीमती साध्वी राजीमती बन गई। श्रीकृष्ण तथा सभी यादवों ने उसे वन्दना की। अपनी शिष्याओं सहित राजीमती तप संयम की आराधना तथा जनकल्याण करती हुई विचरने लगी। थोड़े ही समय में वह बहुश्रुत हो गई।

राजीमती के हृदय में भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शन करने की पहले से ही प्रबल उत्कण्ठा थी। दीक्षा लेने के पश्चात् वह और बढ़ गई। उन दिनों भगवान् गिरिनार पर्वत पर विराजते थे। महासती राजीमती अपनी शिष्याओं के साथ विहार करती हुई गिरिनार के पास आ पहुँची और उल्लास पूर्वक ऊपर चढ़ने लगी। मार्ग में जोर से आँधी चलने लगी, साथ में पानी भी बरसने लगा। काली घटाओं के कारण अन्धेरा छा गया। पास खड़े वृक्ष भी दिखाई देने बन्द हो गए। साध्वी राजीमती उस बवण्डर में पड़ कर अकेली रह गई। सभी साध्वियों का साथ छूट गया। वर्षा के कारण उसके कपड़े भीग गए।

धीरे धीरे आँधी का जोर कम हुआ। वर्षा थम गई। राजीमती को एक गुफा दिखाई दी। कपड़े सुखाने के विचार से वह उसी में चली गई। गुफा को निर्जन समझ कर उसने कपड़े उतारे और सुखाने के लिए फैला दिए।

उसी गुफा में रथनेमि धर्मचिन्तन कर रहे थे। अंधेरा होने के कारण वे राजीमती को दिखाई नहीं दिए। रथनेमि की दृष्टि राजीमती के नग्न शरीर पर पड़ी। उनके हृदय में कामवासना जागृत हो गई। एकान्त स्थान, वर्षा का समय, सामने वस्त्र रहित सुन्दरी, ऐसी अवस्था में रथनेमि अपने को न सम्भाल सके। अपने अभिप्राय

को भ्रष्ट करने के लिए वे विविध प्रकार से कुचेष्टाएं करने लगे।

राजीमती को पता चल गया कि गुफा में कोई पुरुष है और वह बुरी चेष्टाएं कर रहा है। वह डर गई कि कहीं यह पुरुष बल प्रयोग न करे। ऐसे समय में शील की रक्षा का प्रश्न उसके सामने बहुत विकट था। थोड़ी सी देर में उसने अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया। उसने सोचा– मैं वीरबाला हूँ। हँसते हुए प्राणों पर खेल सकती हूँ। फिर मुझे क्या डर है? मनुष्य तो क्या देव भी मेरे शील का भंग नहीं कर सकते। वस्त्र पहिनने में विलम्ब करना उचित न समझ कर वह मर्कटासन लगा कर बैठ गई। जिससे कामातुर व्यक्ति उस पर शीघ्र हमला न कर सके।

अँधेरे के कारण रथनेमि राजीमती को दिखाई न दे रहे थे। राजीमती कुछ प्रकाश में थी इस कारण रथनेमि को स्पष्ट दिखाई दे रही थी। उन्होंने राजीमती को पहिचान लिया और चेहरे की भावभङ्गी से जान लिया कि राजीमती भयभीत हो गई है। वे अपने स्थान से उठ कर राजीमती के पास आए और कहने लगे– राजीमती! डरो मत। मैं तुम्हारा प्रेमी रथनेमि हूँ। मेरे द्वारा तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होगा। भय और लज्जा को छोड़ दो। आओ हम तुम मनुष्योचित सुख भोगें। यह स्थान एकान्त है, कोई देखने वाला नहीं है। दुर्लभ नरजन्म को पाकर भी सुखों से वञ्चित रहना मूर्खता है।

रथनेमि के शब्द सुन कर राजीमती का भय कुछ कम हो गया। उसने सोचा– रथनेमि कुलीन पुरुष हैं इस लिए समझाने पर मान जाएंगे। उसने मर्कटासन त्याग कर कपड़े पहिनना शुरू किया। रथनेमि कामुक बन कर राजीमती से विविध प्रकार की प्रार्थनाएं कर रहे थे और राजीमती कपड़े पहिन रही थी। कपड़े पहिन लेने पर उसने कहा– रथनेमि अनगार! आपने मुनिव्रत अङ्गीकार किया है! आप कामुक तथा पतित लोगों के समान

कैसी बातें कर रहे हैं ?

रथनेमि– साधु होने पर भी इस समय मुझे तुम्हारे सिवाय कुछ नहीं सूझ रहा है। तुम्हारे रूप पर आसक्त होकर मैं सारा ज्ञान, ध्यान भूल गया हूँ।

राजीमती– आपको अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहना चाहिए। क्या आप भूल गए कि आपने संयम अङ्गीकार करते समय क्या प्रतिज्ञाएं की थीं ?

रथनेमि–मुझे व प्रतिज्ञाएं याद हैं, किन्तु यहाँ कौन देख रहा है ?

राजीमती– जिसे दूसरा कोई न देखे क्या वह पाप नहीं होता ? अपनी अन्तरात्मा से पूछिए। क्या छिप कर पाप करने वाला पतित नहीं माना जाता ?

मायावी होने के कारण वह तो खुल्लमखुल्ला पाप करने वाले से भी अधिक पातकी है।

रथनेमि– अगर छिप कर ऐसा करना तुम्हें पसन्द नहीं है तो आओ हम दोनों विवाह करलें और संसार का आनन्द उठाएं। वृद्धावस्था आने पर फिर दीक्षा ले लेंगे।

राजीमती– आपने उस समय स्वयं लाए हुए पेय पदार्थ को क्यों नहीं पिया था ?

रथनेमि– वह तुम्हारा वमन किया हुआ था।

राजीमती– यदि आप ही का वमन होता तो आप पी जाते ?

रथनेमि–यह कैसे हो सकता है, क्या वमन को भी कोई पीता है ?

राजीमती– तो आप कामभोगों को छोड़ कर (उनका वमन करके) फिर स्वीकार करने के लिये कैसे तैयार हो रहे हैं ?

रथनेमि कुमार ! आप अन्धकवृष्णि के पौत्र, महाराजा समुद्र विजय के पुत्र, धर्मचक्रवर्ती तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि के भाई हैं। त्यागे हुए को फिर स्वीकार करने की इच्छा आपके लिये लज्जा

की बात है।

पक्खन्दे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छन्ति वतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥

अर्थात्– अगन्धन कुल में पैदा हुए साँप जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि में गिर कर भस्म हो जाते हैं किन्तु उगले हुए विष को पीना पसन्द नहीं करते।

आप तो मनुष्य हैं, महापुरुषों के कुल में आपका जन्म हुआ है फिर यह दुर्भावना कहाँ से आई ?

आपने संसार छोड़ा है। मैंने भी विषयवासना छोड़ कर महाव्रत अङ्गीकार किये हैं। आप और भगवान् दोनों एक कुल के हैं। दोनों ने एक ही माता के पेट से जन्म लिया है फिर भी आप दोनों में कितना अन्तर है। जरा अपनी आत्मा की तरफ ध्यान दीजिए। चर्मचक्षुओं के बजाय आभ्यन्तर नेत्रों से देखिए। जो शरीर आपको सुन्दर दिखाई दे रहा है, उसके अन्दर रुधिर, माँस, चर्बी, विष्ठा आदि अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। क्या ऐसी अपवित्र वस्तु पर भी आप आसक्त हो रहे हैं? यदि आप सरीखे मुनिवर भी इस प्रकार डाँवाडोल होने लगेंगे तो दूसरों का क्या हाल होगा? जरा विचार कर देखिए कि आपके मुख से क्या ऐसी बातें शोभा देती हैं? अपने कृत्य पर पश्चात्ताप कीजिए। भविष्य के लिए संयम में दृढ़ रहने का निश्चय कीजिए। तभी आपकी आत्मा का कल्याण हो सकेगा।

रथनेमि का मस्तक राजीमती के सामने लज्जा से झुक गया। उन्हें अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा। अपने अपराध के लिए वे राजीमती से बार बार क्षमा माँगने लगे।

राजीमती ने कहा– रथनेमि मुनिवर! क्षमा अपनी आत्मा से माँगिए। पाप करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को इतना नुकसान नहीं पहुँचाता जितना अपनी आत्मा को पतित बनाता है। इस

अधिक हानि आपकी ही हुई है। उसके लिए पश्चात्ताप करके आत्मा को शुद्ध बनाइए। पश्चात्ताप की आग में पाप कर्म भस्म हो जाते हैं। भविष्य के लिए पाप से बचने की प्रतिज्ञा कीजिए। अपने मन को शुभध्यान में लगाए रखिए जिससे आत्मा का उत्तरोत्तर विकास होता जाय।

तीसे सो वयणं सुच्चा, संजाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ॥

अर्थात्– जिस प्रकार अंकुश द्वारा हाथी ठिकाने पर आ जाता है उसी प्रकार सती राजीमती द्वारा कहे हुए हित वचनों को सुन कर रथनेमि धर्म में स्थिर हो गये।

रथनेमि ने भविष्य के लिए संयम में दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा की। राजीमती ने उसे संयम के लिए फिर प्रोत्साहित किया और गुफा से निकल कर अपना रास्ता लिया। आगे चल कर उसे दूसरी साध्वियाँ भी मिल गईं। सब के साथ वह पहाड़ पर चढ़ने लगी।

धीरे धीरे सभी साध्वियाँ भगवान् अरिष्टनेमि के पास आ पहुँची। राजीमती की चिर अभिलाषा पूर्ण हुई। आनन्द से उस का हृदय गद्गद हो उठा। उसने भगवान् के दर्शन किए। उपदेश सुना। आत्मा को सफल बनाया। भगवान् के उपदेशानुसार कठोर तप और संयम की आराधना करने लगी। फल स्वरूप उसके सभी कर्म शीघ्र नष्ट हो गए। भगवान् के मोक्ष पधारने से चौपन दिन पहले वह सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गई।

वासना रहित सच्चा प्रेम, पूर्ण ब्रह्मचर्य, कठोर संयम, उग्र तपस्या अनुपम पतिभक्ति तथा गिरते हुए को स्थिर करने के लिए राजीमती का आदर्श सदा जाज्वल्यमान रहेगा।

(पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान में आये हुए राजीमती चरित्र के आधार पर)

(५) द्रौपदी

प्राचीन काल में चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर उत्तर पूर्व दिशा अर्थात् ईशान कोण में सुभूमिभाग नाम का उद्यान था।

चम्पा नगरी में तीन ब्राह्मण रहते थे– सोम, सोमदत्त और सोमभूति। वे तीनों भाई भाई थे। तीनों धनाढ्य, वेदों के जानकार तथा शास्त्रों में प्रवीण थे। तीनों के क्रमशः नागश्री, भूतश्री और यज्ञश्री नाम वाली तीन भार्याएं थीं। तीनों सुकोमल तथा उन ब्राह्मणों को अत्यन्त प्रिय थीं। मनुष्य सम्बन्धी भोगों को यथेष्ट भोगती हुई कालयापन कर रही थीं।

एक बार तीनों भाइयों ने विचार किया– हम लोगों के पास बहुत धन है। सात पीढ़ी तक भी यदि हम बहुत दान करें तथा बहुत बाँटें तब भी समाप्त नहीं होगा, इस लिए प्रत्येक को बारी बारी से विपुल अशन पान आदि तैयार कराने चाहिए और सभी को वहीं एक साथ भोजन करना चाहिए। यह सोच कर वे सब बारी बारी से प्रत्येक के घर भोजन करते हुए आनन्द पूर्वक रहने लगे।

एक बार नागश्री के घर भोजन की बारी आई। उसने विपुल अशन पान आदि तैयार किए। शरद् ऋतु सम्बन्धी अलाबु (तुम्बा या घीया) का तज, इलायची वगैरह कई प्रकार के मसाले डाल कर शाक बनाया। तैयार हो जाने पर नागश्री ने एक बूँद हाथ में लेकर उसे चखा। वह उसे खारा, कड़वा, अखाद्य और अभक्ष्य मालूम पड़ा। नागश्री बहुत पश्चात्ताप करने लगी। कड़वे शाक को कोने में रख कर उसने मीठे अलाबु (तुम्बा या घीया) का शाक बनाया। सभी ने भोजन किया और अपने अपने कार्य में प्रवृत्त हो गए।

उन दिनों धर्मघोष नाम के स्थविर मुनि अपने शिष्य परिवार

सहित विहार करते हुए चम्पानगरी के सुभूमिभाग नामक उद्यान में पधारे। उन्हें वन्दना करने के लिए नगरी के बहुत से लोग गए। मुनि ने धर्मोपदेश दिया। व्याख्यान के बाद सभी लोग अपने अपने स्थान पर चले आए।

धर्मघोष स्थविर के शिष्य धर्मरुचि अनगार मास मास खमण की तपस्या करते हुए विचर रहे थे। मासखमण के पारने के दिन धर्मरुचि अनगार ने पहिली पोरिसी में स्वाध्याय किया। दूसरी में ध्यान किया। फिर तीसरी पोरिसी में पात्र वगैरह की पडिलेहणा करके धर्मघोष स्थविर की आज्ञा ली। चम्पा नगरी में आहार के लिए उच्च नीच कुलों में घूमते हुए वे नागश्री के घर पहुँचे। नागश्री उन्हें देख कर खड़ी हुई और रसोई में जाकर वही कड़वे तुम्बे का शाक उठा लाई। उसे धर्मरुचि अनगार के पात्र में डाल दिया।

पर्याप्त आहार आया जान कर धर्मरुचि अनगार नागश्री ब्राह्मणी के घर से निकल कर उपाश्रय में आए। आहार का पात्र हाथ में लेकर गुरु को बताया। धर्मघोष स्थविर को तुम्बे की गन्ध बुरी लगी। शाक की एक बूँद हाथ में ले कर उन्होंने उसे चखा तो बहुत कड़वा तथा अभक्ष्य मालूम पड़ा। उन्होंने धर्मरुचि अनगार से कहा—हे देवानुप्रिय! कड़वे तुम्बे के इस शाक का यदि तुम आहार करोगे तो अकालमृत्यु प्राप्त करोगे। इस लिए इस शाक को किसी एकान्त तथा जीव जन्तुओं से रहित स्थण्डिल में परठ आओ। दूसरा एषणीय आहार लाकर पारना करो।

धर्मरुचि अनगार गुरु की आज्ञा से सुभूमिभाग नामक उद्यान से कुछ दूर गए। स्थण्डिल की पडिलेहणा करके उन्होंने शाक की एक बूँद जमीन पर डाली। उस की गन्ध से उसी समय वहाँ हजारों कीड़ियाँ आ गई और स्वाद लेते ही अकाल मृत्यु प्राप्त करने लगीं। यह देख धर्मरुचि अनगार ने सोचा— एक बूँद से ही इतने जीवों

की हिंसा होती है तो यदि मैं सारा शाक यहीं परठ दूंगा तो बहुत से प्राण (द्वीन्द्रियादि), भूत (वनस्पति) जीव (पञ्चेन्द्रिय) तथा सत्त्व (पृथ्वी कायादिक) मारे जायेंगे। इस लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं स्वयं इस शाक का आहार कर लूँ। यह शाक मेरे शरीर में ही गल जायगा। यह सोच कर उन्होंने मुखवस्त्रिका की पडिलेहणा की। अपने शरीर को पूँजा। इसके बाद उस कड़वे शाक को इस तरह अपने पेट में डाल लिया जिस तरह साँप बिल में प्रवेश करता है।

आहार करने के बाद एक मुहूर्त के अन्दर अन्दर वह शाक विषरूप में परिणत हो गया। सारे शरीर में असह्य वेदना होने लगी। उनमें बैठने, उठने की शक्ति नष्ट हो गई। वे बलरहित पराक्रमरहित और वीर्यरहित हो गए।

अपने आयुष्य को समाप्तप्राय जान कर धर्मरुचि अनगार ने पात्र अलग रख दिए। स्थण्डिल की पडिलेहणा करके दर्भ का संथारा बिछाया। उस पर बैठ कर पूर्व की ओर मुँह किया। दोनों हाथों की अञ्जलि को ललाट पर रख कर उन्होंने इस प्रकार बोलना शुरू किया—

णमोत्थुणं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं, णमोत्थुणं धम्मघोसाणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसगाणं, पुव्विं पि णं मम धम्मघोसाणं थेराणं अन्तिए सव्वे पाणातिवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव परिग्गहे। इयाणिं पि णं अहं तेसिं चेव भगवन्ताणं अंतिए सव्वं पाणातिवायं पच्चक्खामि जाव परिग्गहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए।

अर्थात्— अरिहन्त भगवान् और सिद्ध भगवान् को मेरा नमस्कार हो तथा मेरे धर्माचार्य्य एवं धर्मोपदेशक धर्मघोष स्थविर को नमस्कार हो। मैंने आचार्य भगवान् के पास पहले सर्व प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक सब पापों का यावज्जीवन त्याग किया था। अब फिर भी

उन सभी पापों का त्याग करता हूँ।

इस प्रकार चरम श्वासोच्छ्वास तक शरीर का ममत्व छोड़ कर आलोचना और प्रतिक्रमण करके धर्मरुचि अनगार समाधि में स्थिर हो गये। सारे शरीर में विष व्याप्त हो जाने से प्रबल वेदना उत्पन्न हुई जिससे तत्काल वे कालधर्म को प्राप्त हो गये।

धर्मरुचि अनगार को गये हुए जब बहुत समय हो गया तो धर्मघोष आचार्य ने दूसरे साधुओं को उनका पता लगाने के लिये भेजा। स्थण्डिल भूमि में जाकर साधुओं ने देखा तो उन्हें मालूम हुआ कि धर्मरुचि अनगार कालधर्म को प्राप्त होगये हैं। उसी समय साधुओं ने उसके निमित्त कायोत्सर्ग किया। इसके बाद धर्मरुचि अनगार के पात्र आदि लेकर वे धर्मघोष आचार्य के पास आए और उनके सामने पात्र आदि रख कर धर्मरुचि अनगार के काल धर्म प्राप्त होने की बात कही।

धर्मघोष आचार्य ने पूर्वों के ज्ञान में उपयोग देकर देखा और सब साधुओं को बुला कर इस प्रकार कहा—आर्यो! मेरा शिष्य धर्मरुचि अनगार प्रकृति का भद्रिक और विनयवान् था। निरन्तर एक एक महीने से पारना करता था। आज मासखमण के पारने के लिए वह गोचरी के लिए गया। नागश्री ब्राह्मणी ने उसे कडवे तुम्बे का शाक वहरा दिया। उसके खाने से उसका देहान्त हो गया है। परिणामों की शुद्धता से वह सर्वार्थसिद्ध विमान में तेतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ है।

यह खबर जब शहर में फैली तो लोग नागश्री को धिक्कारने लगे। वे तीनों ब्राह्मण भाई नागश्री के इस कार्य से उस पर बहुत कुपित हुए। घर आकर उन्होंने नागश्री को बहुत बुरा भला कहा और निर्भर्त्सना पूर्वक उसे घर से बाहर निकाल दिया। वह जहाँ भी जाती लोग उसका तिरस्कार करते, धिक्कारते और अपने यहाँ

से निकाल देते। नागश्री बहुत दुखी हो गई। हाथ में मिट्टी का पात्र लेकर वह घर घर भीख माँगने लगी। थोड़े दिनों बाद उसके शरीर में श्वास, कास, योनिशूल, कोढ आदि सोलह रोग उत्पन्न हुए। मर कर छठी नारकी में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नैरयिक रूप से उत्पन्न हुई। वहाँ से निकल कर मत्स्य, सातवीं नरक, मत्स्य, सातवीं नरक, मत्स्य, छठी नरक, उरग(सर्प), इस प्रकार बीच में तिर्यञ्च का भव करती हुई प्रत्येक नरक में दो दो बार उत्पन्न हुई। फिर पृथ्वीकाय, अप्काय आदि एकेन्द्रिय जीवों में तथा द्वीन्द्रियादि जीवों में अनेक बार उत्पन्न हुई। इस प्रकार नरक और तिर्यञ्च के अनेक भव करता हुआ नागश्री का जीव चम्पा नगर निवासी सागरदत्त सार्थवाह की भार्या भद्रा की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ।

जन्मोत्सव मना कर माता पिता ने पुत्री का नाम सुकुमालिका रखा। माता पिता की इकलौती सन्तान होने से वह उनको बहुत प्रिय थी। पांच धायों द्वारा उसका लालन पालन होने लगा। सुरक्षित बेल की तरह वह बढ़ने लगी। क्रमशः बाल्यावस्था को छोड़ कर वह यौवन वय को प्राप्त हुई। अब माता पिता को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई।

चम्पा नगरी में जिनदत्त नाम का एक सार्थवाह रहता था। उस की स्त्री का नाम भद्रा और पुत्र का नाम सागर था। सागर बहुत रूपवान् था। विद्या और कला में प्रवीण होकर वह यौवन वय को प्राप्त हुआ। माता पिता उसके लिये योग्य कन्या की खोज करने लगे।

एक दिन जिनदत्त सागरदत्त के घर के नजदीक होकर जा रहा था। अपनी सखियों के साथ कनक कन्दुक(सुनहली गेंद) से खेलती हुई सुकुमालिका को उसने देखा। नौकरों द्वारा दरियाफ्त कराने पर उसे मालूम हुआ कि यह सागरदत्त की पुत्री सुकुमालिका है।

इसके पश्चात् एक समय जिनदत्त सागरदत्त के घर गया। उचित सत्कार करने के पश्चात् सागरदत्त ने उसे आने का कारण पूछा। जिनदत्त ने अपने पुत्र सागर के लिये सुकुमालिका की माँगणी की। सागरदत्त ने कहा– हमारे यह एक ही सन्तान है। हमें यह बहुत प्रिय है। हम इसका वियोग सहन नहीं कर सकते, इस लिये यदि आपका पुत्र हमारे यहाँ घरजमाई तरीके रहे तो मैं अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर सकता हूँ। जिनदत्त ने सागरदत्त की यह शर्त स्वीकार कर ली। शुभ मुहूर्त देख कर सागरदत्त ने अपनी पुत्री सुकुमालिका का विवाह सागर के साथ कर दिया।

सागर को सुकुमालिका के अङ्ग का स्पर्श असिपत्र (खड्ग) के समान अति तीक्ष्ण और कष्टकारक प्रतीत हुआ। सोती हुई सुकुमालिका को छोड़ कर वह अपने घर भाग आया। पति वियोग से सुकुमालिका उदासीन और चिन्तित रहने लगी।

पिता ने कहा– पुत्री! यह तेरे पूर्व भव के अशुभ कर्मों का फल है। तू चिन्ता मत कर। अपने रसोईघर में अशन, पान आदि वस्तुएं हर समय तैयार रहती हैं, उन्हें साधु महात्माओं को देती हुई तू धर्म ध्यान कर।

सुकुमालिका पिता के कथनानुसार कार्य करने लगी। एक समय गोपालिका नाम की बहुश्रुत साध्वी अपनी शिष्याओं के साथ वहाँ आई। अशन, पान आदि वहराने के पश्चात् सुकुमालिका ने उनसे पूछा– हे आर्याओ! तुम बहुत मंत्र तंत्र जानती हो। मुझे भी ऐसा कोई मंत्र बतलाओ जिससे मैं अपने पति को इष्ट हो जाऊँ। साध्वियों ने कहा– हे भद्रे! इन बातों को बताना तो दूर रहा, हमें ऐसी बातें सुनना भी नहीं कल्पता। साध्वियों ने सुकुमालिका को केवलि भाषित धर्म का उपदेश दिया जिससे उसे संसार से विरक्ति होगई। अपने पिता सागरदत्त की आज्ञा लेकर उसने गोपालिका आर्या के

पास दीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर अनेक प्रकार की कठोर तपस्या करती हुई विचरने लगी।

एक समय वह गोपालिका आर्या के पास आकर इस प्रकार कहने लगी- पूज्ये! आपकी आज्ञा हो तो मैं सुभूमिभाग उद्यान के आसपास बेले बेले पारना करती हुई सूर्य की आतापना लेकर विचरना चाहती हूँ। गोपालिका आर्या ने कहा- साध्वियों को ग्राम यावत् सन्निवेश के बाहर सूर्य की आतापना लेना नहीं कल्पता। अन्य साध्वियों के साथ रह कर उपाश्रय के अन्दर ही अपने शरीर को कपड़े से ढक कर सूर्य की आतापना लेना कल्पता है।

सुकुमालिका ने अपनी गुरुआनी की बात न मानी। वह सुभूमि भाग उद्यान के कुछ दूर आतापना लेने लगी। एक समय देवदत्ता नाम की एक वेश्या पाँच पुरुषों के साथ क्रीडा करने के लिये सुभूमिभाग उद्यान में आई। उसे देख कर सुकुमालिका के हृदय में विचार आया कि यह स्त्री भाग्यशालिनी है जिससे यह पाँच पुरुषों को वल्लभ एवं प्रिय है। यदि मेरे त्याग, तप एवं ब्रह्मचर्य का कुछ भी फल हो तो आगामी भव में मैं भी इसी प्रकार पाँच पुरुषों को वल्लभ एवं प्रिय बनूँ। इस प्रकार सुकुमालिका ने नियाणा कर लिया।

कुछ समय पश्चात् वह गोपालिका आर्या के पास वापिस चली आई। अब वह शरीर बकुशा होगई अर्थात् शरीर की शुश्रूषा करने लग गई। अपने शरीर के प्रत्येक भाग को धोने लगी तथा स्वाध्याय, शय्या के स्थान को भी जल से छिड़कने लगी। गोपालिका आर्या ने उसे ऐसा करने से मना किया किन्तु सुकुमालिका ने उसकी बात न मानी और वह ऐसा ही करती हुई रहने लगी। दूसरी साध्वियों को उसका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। उन्होंने उसका आदर सत्कार करना छोड़ दिया। इससे गोपालिका आर्या को छोड़ कर सुकुमालिका अलग उपाश्रय में अकेली रहने लगी। अब वह पासत्था,

पासत्थ विहारी, ओसण्णा, ओसण्ण विहारी, कुसीला, कुसीलविहारी, संसत्ता और संसत्त विहारी होगई अर्थात् संयम में शिथिल होगई।

इस प्रकार कई वर्षों तक साधुपर्याय का पालन कर अन्तिम समय में पन्द्रह दिन की संलेखना की। अपने अयोग्य आचरण की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही वह काल धर्म को प्राप्त होगई। मर कर ईशान देवलोक में नव पल्योपम की स्थिति वाली देवगणिका (अपरिगृहीता देवी) हुई।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पञ्चाल देश के अन्दर एक अति रमणीय कम्पिलपुर नाम का नगर था। उसमें द्रुपद राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम चुलणी था। उनके पुत्र का नाम धृष्टद्युम्न था। वह युवराज था। ईशान कल्प का आयुष्य पूरा होने पर सुकुमालिका का जीव रानी चुलणी की कुक्षि से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। माता पिता ने उसका नाम द्रौपदी रक्खा।

पाँच धायों द्वारा लालन पालन की जाती हुई द्रौपदी पर्वत की गुफा में रही हुई चम्पकलता की तरह बढ़ने लगी। क्रमशः बाल्यावस्था को छोड़ कर वह युवावस्था को प्राप्त हुई। राजा द्रुपद को उसके लिये योग्य वर की चिन्ता हुई।

राजा द्रुपद ने द्रौपदी का स्वयंवर करने का निश्चय किया। नौकरों को बुला कर उसने स्वयंवर मण्डप बनाने की आज्ञा दी। मण्डप तैयार हो जाने पर द्रुपद राजा ने अनेक देशों के राजाओं के पास दूतों द्वारा आमन्त्रण भेजे।

निश्चित तिथि पर विविध देशों के अनेक राजा और राजकुमार स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए। कृष्ण वासुदेव भी अनेक यादवकुमार और पांच पाण्डवों को साथ लेकर वहाँ आये। सभी लोग अपने अपने योग्य आसनों पर बैठ गये। स्नान करके वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर राजकुमारी द्रौपदी एक दासी के साथ स्वयंवर मण्डप

में आई। दासी वाए हाथ में एक दर्पण लिये हुई थी। उसमें राजाओं का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। उनके नाम, स्थान तथा गुणों का परिचय देती हुई वह द्रौपदी को साथ लेकर आगे बढ रही थी। धीरे धीरे वह जहाँ पाँच पाण्डव बैठे हुए थे वहाँ आ पहुँची। पूर्व जन्म में किये हुए नियाणे से प्रेरित हो कर उसने पाँचों पाण्डवों के गले में वरमाला डाल दी। 'राजकुमारी द्रौपदी ने श्रेष्ठ वरण किया' ऐसा कह कर सब राजाओं ने उसका अनुमोदन किया।

इसके पश्चात् राजा द्रुपद ने अपनी पुत्री का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ कर दिया। आठ करोड़ सोनैयों का प्रीतिदान दिया। विपुल अशन, पान तथा वस्त्र आभरण आदि से पाण्डवों का उचित सत्कार कर उन्हें विदा किया। (ज्ञाताधर्म कथांग सोलहवां अध्ययन)

द्रौपदी का विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ होगया। बारी बारी से वह प्रत्येक की पत्नी रहने लगी। जिस दिन जिसकी बारी होती उस दिन उसे पति मान कर बाकी के साथ जेठ या देवर सरीखा बर्ताव रखती।

एक बार द्रौपदी शरीर परिमाण दर्पण में अपने शरीर को बार बार देख रही थी। इतने में वहाँ नारद ऋषि आए। द्रौपदी दर्पण देखने में लीन थी, इस लिए उसने नारदजी को नहीं देखा। नारद कुपित होकर धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी में पहुँचे। वहाँ पद्मोत्तर राजा राज्य करता था। नारदजी उसी के पास गए।

राजा ने विनय पूर्वक उनका स्वागत किया और पूछा– महाराज! आप सब जगह घूमते रहते हैं कोई नई बात बताइए। नारदजी ने उत्तर दिया– मैं हस्तिनापुर गया था वहाँ पाण्डवों के अन्तःपुर में द्रौपदी को देखा। तुम्हारे अन्तःपुर में ऐसी एक भी स्त्री नहीं है। पद्मोत्तर राजा ने द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए एक देव की आराधना की। देव द्रौपदी को उठा कर वहाँ ले आया।

पद्मोत्तर उससे कहने लगा–द्रौपदी ! तुम मेरे साथ भोग भोगो। यह राज्य तुम्हारा है। यह सारा वैभव तुम्हारा है। इसे स्वीकार करो। मैं तुम्हें सभी रानियों में पटरानी मानूँगा। सभी काम तुम्हें पूछ कर करूँगा। इस प्रकार कई उपायों से उसने द्रौपदी को सतीत्व से विचलित करने का प्रयत्न किया किन्तु द्रौपदी के हृदय में लेशमात्र भी विकार नहीं आया। वह पञ्च परमेष्ठी का ध्यान करती हुई तपस्या में लीन रहने लगी।

द्रौपदी का हरण हुआ जान कर पाण्डवों ने श्रीकृष्ण के पास जाकर सारा हाल कहा। यह सुन कर श्रीकृष्ण भी विचार में पड गए।

द्रौपदी का पता लगाने के लिए वे उपाय सोचने लगे। इतने में नारद ऋषि वहाँ आ पहुँचे। श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा–नारदजी ! आपने कहीं द्रौपदी को देखा है ? नारद ने उत्तर दिया– धातकी खण्ड द्वीप में अमरकङ्का नगरी के राजा पद्मोत्तर के अन्तःपुर में मैंने द्रौपदी जैसी स्त्री देखी है। यह सुन कर श्रीकृष्ण ने सुस्थित देव की आराधना की। पाँच पाण्डव और श्रीकृष्ण छहों रथ में बैठ कर अमरकङ्का पहुँचे और नगरी के बाहर उद्यान में ठहर गए। पाँचों पाण्डव पद्मोत्तर राजा के साथ युद्ध करने गए किन्तु हार कर वापिस चले आए। यह देख कर श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध करने के लिये गए। राजा पद्मोत्तर हार कर किले में घुस गया। श्रीकृष्ण ने किले पर चढ कर विकराल रूप धारण कर लिया और पृथ्वी को इस तरह कँपाया कि बहुत से घर गिर पड़े। पद्मोत्तर डर कर श्रीकृष्ण के पैरों में आ गिरा और अपने अपराध के लिए क्षमा माँगने लगा। श्रीकृष्ण द्रौपदी को लेकर वापिस चले आए।

उसी समय धातकीखण्ड के मुनिसुव्रत नाम के तीर्थङ्कर धर्मदेशना दे रहे थे। वहाँ कपिल नाम के वासुदेव ने उनसे श्रीकृष्ण के आगमन की बात सुनी। वह उनसे मिलने के लिए समुद्र के किनारे गया।

श्रीकृष्ण पहले ही रवाना हो चुके थे। समुद्र में जाते हुए श्रीकृष्ण के रथ की ध्वजा को देख कर धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने उनसे मिलने के लिए अपना शख बजाया। श्रीकृष्ण ने भी उसका उत्तर देने के लिए अपना शख बजाया। दोनों वासुदेवों की शखों से बातचीत हुई।

पाँचों पाण्डव तथा श्रीकृष्ण द्रौपदी के साथ लवण समुद्र को पार करके गंगा के किनारे आए और वहाँ से अपनी राजधानी में पहुँच गए।

एक बार पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया। देश विदेश के सभी राजाओं को निमन्त्रण भेजा गया। इन्द्रप्रस्थपुरी को खूब सजाया गया। वह साक्षात् इन्द्रपुरी सी मालूम पड़ने लगी। मयदानव ने सभा मण्डप रचने में अपूर्व कौशल दिखलाया। जहाँ स्थल था वहाँ पानी दिखाई देता था और जहाँ पानी था वहाँ सूखी जमीन दिखाई देती थी। देश विदेश के राजा इकट्ठे हुए। युधिष्ठिर के चरणों में गिरे। दुर्योधन वगैरह सभी कौरव भी आए।

एक बार द्रौपदी और भीम बैठे हुए सभामण्डप को देख रहे थे। इतने में वहाँ दुर्योधन आया। सूखी जमीन में पानी समझ कर उसने कपड़े ऊँचे उठा लिये। पानी वाली जगह को सूखी जमीन समझ कर वैसे ही चला गया और उसके कपड़े भीग गए। द्रौपदी और भीम यह सब देख रहे थे, इस लिए हँसने लगे। द्रौपदी ने मजाक करते हुए कहा—अन्धे के बेटे भी अन्धे ही होते हैं।

दुर्योधन के दिल में यह बात तीर की तरह चुभ गई। उसने मन ही मन इस अपमान का बदला लेने के लिए निश्चय कर लिया।

दुर्योधन का मामा शकुनि षड्यन्त्र रचने में बहुत चतुर था। जुए में सिद्धहस्त था। उसका फेंका हुआ पासा कभी उल्टा न पड़ता था। दुर्योधन ने उसी से कोई उपाय पूछा।

शकुनि ने उत्तर दिया– एक ही उपाय है। तुम युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए तैयार करो। इसके लिए उनके पास विदुरजी को भेज दो। उनके कहने से वे मान जाएँगे। धृतराष्ट्र से तुम स्वयं पूछ लो। खेलते समय यह शर्त रक्खो कि जो हारे वह राजगद्दी छोड दे। तुम्हारी तरफ से पासे मैं फेंकूँगा। फिर देखना, एक भी दाव उल्टा न पड़ेगा।

दुर्योधन ने उसी प्रकार किया। अपने पिता धृतराष्ट्र को पैरों में गिर कर तथा उल्टी सीधी बातें करके, मना लिया। पुत्रस्नेह के कारण वे उसकी बात को बुरी होने पर भी न टाल सके। विदुर के कहने पर युधिष्ठिर भी तैयार हो गए। जुआ खेला गया। एक तरफ दुर्योधन, शकुनि और सभी कौरव थे, दूसरी ओर पाण्डव। शकुनि के पासे बिल्कुल ठीक पड रहे थे। युधिष्ठिर अपने राज्य को हार गए। चारों भाई तथा अपने को हार गए। अन्त में द्रौपदी को भी हार गए। जुए में पड कर वे अपनी राजलक्ष्मी, अपने और भाइयों के शरीर तथा अपनी रानी द्रौपदी सभी को खो बैठे। वे सभी दुर्योधन के दास बन चुके थे।

महाराजा दुर्योधन का दरबार लगा हुआ था। भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर आदि सभी अपने अपने आसन पर शोभित थे। एक तरफ पांचों पाण्डव अपना सिर झुकाए बैठे थे। इतने में दुःशासन द्रौपदी को चोटी से पकड कर लाया। दरवाजे पर द्रौपदी थोडी सी हिचकिचाई तो दुःशासन ने एक धप जमाया और भरी सभा में द्रौपदी को खींच लिया।

द्रौपदी का क्रोध भभक उठा। सिंहिनी के समान गर्जते हुए उसने कहा– पितामह भीष्म! आचार्य द्रोण! विदुरजी! क्या आप इस समय शान्त बैठे रहना ही अपना कर्तव्य समझते हैं? द्रुपद राजा की पुत्री, पाण्डवों की धर्मपत्नी तथा धृतराष्ट्र की कुल-

वधू को पापी दुःशासन इस प्रकार अपमानित करे और आप बैठे बैठे देखते रहें, क्या यही न्याय है ? क्या आप एक अबला के सन्मान की रक्षा नहीं कर सकते ?

'देखो ऐसी कुलवधू ! पाँच पति फिर भी कुलवधू ! तुम्हारे पति जुए में हार गए हैं। वे हमारे दास बन चुके हैं। साथ में तुम भी' दुःशासन ने डाटते हुए कहा।

'बस बस, मैं कभी गुलाम नहीं हो सकती। मैं सभा से पूछती हूँ कि मेरे पतियों ने मुझे स्वयं दास होने से पहले दाव पर रक्खा था या बाद में ? अगर पहले रखा हो तभी मैं गुलाम बन सकती हूँ, बाद में रखने पर नहीं।' द्रौपदी ने कहा।

सभी लोग शान्त बैठे रहे। उत्तर कौन दे ? वह सभा न्याय करने के लिये नहीं जुड़ी थी किन्तु पाण्डवों का विनाश करने के लिए। वहाँ न्याय को सुनने वाला कोई न था। यद्यपि भीष्म, द्रोणाचार्य वगैरह स्वयं पापी न थे किन्तु पापी मालिक की नौकरी के कारण उनका हृदय भी कमजोर बन गया था। इसी लिए वे दुःशासन का विरोध न कर सके।

सभी को शान्त देख कर दुःशासन, द्रौपदी और पाण्डवों को लक्ष्य कर कहने लगा– हम कुछ भी नहीं सुनना चाहते। तुम सभी राजसी पोशाक उतार दो। तुम सभी हमारे गुलाम हो।

पाँचों पाण्डवों ने राजसी पोशाक उतार दी किन्तु द्रौपदी चुपचाप वैसी ही खड़ी रही।

'क्यों तुम नहीं सुन रही हो ?' दुःशासन ने चिल्ला कर कहा।

'मैंने एक ही कपड़ा पहिन रखा है, मैं रजस्वला हूँ।' द्रौपदी ने उत्तर दिया।

'अब रजस्वला बन गई' कह कर दुःशासन ने उसका पल्ला पकड़ लिया। भीम अपने क्रोध को न रोक सका। उसने खड़े होकर

अपनी गदा भूमि पर फटकारी। युधिष्ठिर ने उसे मना कर दिया क्योंकि वे दास थे।

यह देख कर दुर्योधन बोला-- देख क्या रहे हो ? खींच डालो।

द्रौपदी प्रभु का स्मरण कर रही थी। मानवसमाज में उस समय उसे कोई ऐसा व्यक्ति नजर नहीं आ रहा था जो एक अबला की लाज बचा सके। भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर आदि बड़े बड़े धर्मात्मा और नीतिज्ञ उस समय गुलामी के बन्धन में जकड़े हुए थे। वे दुर्योधन के वेतनभोगी दास थे, इस लिए उसका विरोध न कर सकते थे। मानवसमाज जो नियम अपने कल्याण के लिए बनाता है, वे ही समय पड़ने पर अन्याय के पोषक बन जाते हैं।

ऐसे समय में द्रौपदी को भगवान् के नाम के सिवाय और कोई रक्षक दिखाई नहीं दे रहा था। वह अपनी लज्जा बचाने के लिए प्रभु से प्रार्थना कर रही थी। दुःशासन उसके चीर को बलपूर्वक खींच रहा था।

आत्मा में अनन्त शक्ति है, उसके सामने बाह्य शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। जब तक मनुष्य बाह्य शक्ति पर भरोसा रखता है, बाह्य शस्त्रास्त्र तथा सेनाबल को रक्षा या विध्वंस का उपाय मानता है, तब तक आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता। द्रौपदी ने भी बाह्य शक्ति पर विश्वास करके जब तक रक्षा के लिए दूसरों की ओर देखा उसे कोई सहायता न मिली। भीम की गदा और अर्जुन के बाण भी काम न आए। अन्त में द्रौपदी ने बाह्य शक्ति से निराश होकर आत्मशक्ति की शरण ली। वह सब कुछ छोड़ कर प्रभु के ध्यान में लग गई।

दुःशासन ने अपनी सारी शक्ति लगा दी किन्तु वह द्रौपदी का चीर न खींच सका। उसे ऐसा मालूम पड़ने लगा जैसे द्रौपदी में कोई महान् शक्ति कार्य कर रही हो। वह भयभीत सा होकर

खड़ा रह गया। दुर्योधन के पूछने पर उसने कहा-

भाई! मुझ से यह वस्त्र नहीं खींचा जा रहा है। अधिक जोर से खींचता हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है जैसे कोई मेरा हाथ पकड़ कर खींच रहा है। इसके मुह पर देखता हूँ तो आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। पता नहीं इसमें इतना बल कहाँ से आगया। मेरे हाथ काम नहीं कर रहे हैं। अब तो तुम आओ।

सारी सभा स्तब्ध रह गई। दुर्योधन ने अपनी जांघ उघाड़ी और कहा द्रौपदी! आओ यहाँ बैठो।

सभी का मस्तक लज्जा से नीचे झुक गया। भीष्म और द्रोण कुछ न बोल सके। भीम से यह दृश्य न देखा गया। उसने खड़े हो कर प्रतिज्ञा की- दुःशासन! दुर्योधन! यह दृश्य मेरी आँखें नहीं देख सकतीं। अभी तो हम लाचार हैं, प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण कुछ नहीं कर सकते किन्तु युद्ध में अगर मैं दुःशासन के रक्त से द्रौपदी के इन केशों को न सींचूं तथा दुर्योधन की इस जांघ को चूर चूर न करूँ तो मेरा नाम भीम नहीं है।

सारी सभा में भय छा गया। भीम के बल से सभी कौरव परिचित थे। उसकी प्रतिज्ञा भयङ्कर थी। इतने में धृतराष्ट्र और गान्धारी वहाँ आए। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के पिता पाण्डु के बड़े भाई थे। वे जन्मान्ध थे, इस लिए गद्दी पाण्डु को मिली। धृतराष्ट्र को अपनी सन्तान पर प्रेम था। वे चाहते थे कि गद्दी उनके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को मिले, किन्तु लोकलाज से डरते थे। सभा में आते ही उन्होंने द्रौपदी को अपने पास बुला कर सान्त्वना दी। दुःशासन और दुर्योधन को उलहना दिया। अपने पुत्र द्वारा दिए गए इस कष्ट के लिए द्रौपदी से कुछ मांगने को कहा।

द्रौपदी बोली- मुझे और कुछ नहीं चाहिए मैं तो सिर्फ पाँचों पाण्डवों की मुक्ति चाहती हूँ।

'तथास्तु' कह कर धृतराष्ट्र ने सभी पाण्डवों को दासपने से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन से यह न देखा गया। उसने दुबारा जुआ खेलने के लिए युधिष्ठिर को आमन्त्रित किया। हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है इसी लोकोक्ति के अनुसार युधिष्ठिर फिर तैयार होगए।

इस बार यह शर्त रक्खी गई कि जो हारे वह बारह वर्ष वन में रहे और एक वर्ष गुप्तवास करे। यदि गुप्तवास में उसका पता लग जाए तो फिर बारह वर्ष वन में रहे।

भविष्य में होने वाली घटना के लिए कारणसामग्री पहले से तैयार होजाती है। महाभारत के महायुद्ध में जो भीषण नरसंहार होने वाला था, उसकी भूमिका पहले से तैयार हो रही थी। शकुनि के पासे सीधे पड़े। युधिष्ठिर हार गए। उन्हें बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का गुप्तवास प्राप्त हुआ। द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों ने वन की ओर प्रस्थान किया। वे झोंपड़ी बना कर घोर जंगल में रहने लगे।

एक दिन की बात है। युधिष्ठिर अपनी झोंपड़ी में बैठे थे। बाकी चारों भाई जंगल में फल फूल लाने गए हुए थे। पास ही द्रौपदी बैठी थी। बातचीत के सिलसिले में युधिष्ठिर ने लम्बी साँस छोड़ी। द्रौपदी ने आग्रहपूर्वक निःश्वास का कारण पूछा। बहुत आग्रह होने पर युधिष्ठिर ने कहा– द्रौपदी! मुझे स्वयं कोई दुःख नहीं है। दुःख तो मुझे तुम्हें देख कर हो रहा है। तुम्हारे सरीखी कोमल राजकुमारी महलों को छोड़ कर वन में भटक रही है, यही देख कर मुझे कष्ट हो रहा है।

द्रौपदी बोली– महाराज! मालूम पड़ता है मुझे अभी तक आप ने नहीं पहिचाना। जहाँ आप हैं वहाँ मुझे सुख ही सुख है। आप के सुख में मेरा सुख है और दुःख में दुःख। विवाह के बाद पहली

रात मैंने कुम्हार के घर में आप सभी के चरणों में सोकर बिताई थी। उस समय मुझे सुहागरात से कम आनन्द न हुआ था। इस लिए मेरी बात तो छोड़िए। अपने चारों भाइओं के विषय में विचार कीजिए। इन्हीं के लिए आप बन्धन में फँसे। इन्हीं के लिए आप ने यज्ञ किया और इन्हीं के लिए आप इन्द्रप्रस्थ के राजा बने। जिन से शत्रु थर थर काँपते हैं ऐसे आपके भाई पेट भरने के लिए जगलों में रखड रहे हैं। क्या इस बात का आप को खयाल है ? कभी आपको इस बात का विचार भी आता है ?

युधिष्ठिर– आता तो है किन्तु–

द्रौपदी– नहीं, नहीं, यह विचार आप को नहीं आता। भरे दरबार में आपने अपनी स्त्री को जुए की बाजी पर रक्खा। आप की आँखों के सामने उसके बाल खींचे गए। कपड़े खींच कर उसे नगी करने का प्रयत्न किया गया। उसे अपमानित किया गया। हम को शाप दिलाने की इच्छा से दुर्वासा ऋषि को बड़े परिवार के साथ यहाँ भेजा गया। दुर्योधन का बहनोई मुझे यहाँ से उठा ले गया। लाख का घर बना कर हम सब को जला डालने का प्रयत्न किया गया। फिर भी आप को दया आ रही है। आप का मन दुर्योधन को क्षमा करने का हो रहा है। महाराज ! मैं उन सब बातों को नहीं भूल सकती। दुःशासन के द्वारा किया गया अपमान मेरे हृदय में काँटे के समान चुभ रहा है। सच्चे हृदय से समझाने पर भी वह नहीं मानेगा। युद्ध के बिना मैं भी नहीं मान सकती। आप की क्षमा क्षमा नहीं है। यह तो कायरता है। क्षत्रियों में ऐसी क्षमा नहीं होती। फिर भी यदि आप इस कायरता पूर्ण क्षमा को ही धारण करना चाहते हैं तो स्पष्ट कह दीजिए। आप सन्यास धारण कर लीजिए। हम शत्रुओं से अपने आप निपट लेंगे। पहले उनका सहार करके राज्य प्राप्त करेंगे, फिर आपके पास आकर संन्यास

की बातें करेंगे। द्रौपदी की आँखें क्रोध से लाल हो गईं। उस में क्षत्रियाणी का खून उबलने लगा।

युधिष्ठिर— द्रौपदी! मुझे भी ये सारी बातें याद हैं। फिर भी अभी एक वर्ष की देर है। हमें अज्ञातवास करना है। बाद में देखा जाएगा। फिर भी मैं कहता हूँ कि यदि उसे सच्चे हृदय से प्रेम पूर्वक समझाया जाय तो वह अब भी मान सकता है। उसका हृदय परिवर्तित हो जाएगा।

द्रौपदी— हाँ, हाँ! आप समझा कर देखिए। मैं तो युद्ध के सिवाय कुछ नहीं चाहती।

युधिष्ठिर सत्यवादी थे। अहिंसा और सत्य पर उनका दृढ विश्वास था। उनका विचार था कि इन दोनों में अनन्त शक्ति है। मनुष्य या पशु कोई कितना भी क्रूर हो किन्तु इन दोनों के सामने उसे झुकना ही पड़ता है। द्रौपदी का विश्वास था– विष की औषधि विष होता है। हिंसक तथा क्रूर व्यक्ति अहिंसा से नहीं समझाया जा सकता। दुष्ट व्यक्ति में जो बुरी भावना उठती है तथा उसके द्वारा वह दूसरे व्यक्तियों को जिस वेग के साथ नुकसान पहुँचाना चाहता है उसका प्रतिकार केवल हिंसा ही है। एक बार उसके वेग को हिंसा द्वारा कम कर देने के बाद उपदेश या अहिंसा काम कर सकते हैं।

द्रौपदी और युधिष्ठिर अपने अपने विचारों पर दृढ थे।

वनवास के बारह साल बीत गए। गुप्तवास का तेरहवाँ साल बिताने के लिये पाण्डवों ने भिन्न भिन्न प्रकार के वेश पहिने। विराट नगर के श्मशान में आकर उन्होंने आपस में विचार किया। अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष एक वृक्ष की शाखा के साथ इस प्रकार बाँध दिया जिससे दिखाई न पड़े। सभी ने एक एक दिन के अन्तर से नगर में जाकर नौकरी कर ली।

युधिष्ठिर ने अपना नाम कंक रखा और राजा के पुरोहित

पने की नौकरी कर ली। भीम ने वल्लभ के नाम से रसोइए की, अर्जुन ने बृहन्नला के नाम से राजा के अन्तःपुर में नृत्य सिखाने की, नकुल और सहदेव ने अश्वपालक और गोपालक की तथा द्रौपदी ने सैरन्ध्री के नाम से रानी के दासीपने की नौकरी कर ली। वे अपने गुप्तवास का समय विताने लगे।

रानी का भाई कीचक बहुत दुष्ट और दुराचारी था। वह द्रौपदी को बहुत तंग किया करता था। एक बार द्रौपदी भीम के पास गई और उसके पूछने पर कहने लगी–

रानी का भाई कीचक मेरे पीछे पड़ा है। एक बार भरी सभा में उसने मेरे लात मारी। युधिष्ठिर महाराज तो क्षमा के सागर ठहरे। उन्होंने कहा–भद्रे! तुम्हारी रक्षा पाँच गन्धर्व करेंगे। अब तो कीचक बुरी तरह पीछे पड़ गया है। रानी भी उसे साथ दे रही है, बार बार मुझे उसके पास भेजती है।

भीम–तुम उसे किसी स्थान पर मिलने के लिए बुलाओ।

द्रौपदी– कल रात को नई नृत्यशाला में मिलने के लिए उसे कहूँगी किन्तु भूल न हो, नहीं तो बहुत बुरा होगा।

भीम–भूल कैसे हो सकती है? तुम्हारे स्थान पर मैं सो जाऊँगा और उसके आते ही सारा काम पूरा कर दूँगा।

दूसरे दिन निश्चित समय पर कीचक नई नृत्यशाला में गया। सोए हुए व्यक्ति को सैरन्ध्री समझ कर उसके पास गया। आलिंगन करने के लिए झुका। भीम ने उसे अपनी भुजाओं में कस कर ऐसा दबाया कि वह निर्जीव होकर वहीं गिर पड़ा।

कीचक की मृत्यु का समाचार सारे शहर में फैल गया। रानी ने समझा, यह काम सैरन्ध्री के गन्धर्वों ने किया है। उसने सैरन्ध्री को कीचक के साथ जला डालने का निश्चय किया और कीचक की अर्थी के साथ उसे बाँध दी।

भीम को यह बात मालूम पड़ी। भयंकर रूप बना कर वह श्मशान में गया, अर्थी ले जाने वाले लोगों को मार भगाया और द्रौपदी को बन्धन से मुक्त कर दिया।

तेरहवाँ वर्ष पूरा होने पर पाँचों पाण्डव प्रकट हुए। विराट राजा और उसकी रानी ने सभी से क्षमा मांगी। द्रौपदी को दिए हुए दुःख के लिए रानी ने पश्चात्ताप किया।

पाण्डव अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुके थे। शर्त के अनुसार अब राज्य उन्हें वापिस मिल जाना चाहिए था किन्तु दुर्योधन की नीयत पहले से ही बिगड़ चुकी थी। इतने साल राज्य करते करते उसने बड़े बड़े योद्धाओं को अपनी तरफ मिला लिया था। द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा वगैरह बड़े बड़े महारथी उसके पक्ष में होगए थे। राजा होने के कारण सैनिक शक्ति भी उसने बहुत इकट्ठी कर ली थी। उसे अपनी विजय पर विश्वास था। वह सोचता था, पाण्डव इतने दिनों से वन में निवास कर रहे हैं फिर मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं। इन सब बातों को सोच कर उसने राज्य वापिस करने से इन्कार कर दिया।

पाण्डवों को अपने बल पर विश्वास था। दुर्योधन द्वारा किया गया अपमान भी उनके मन में खटक रहा था। इस लिए वे युद्ध के लिए तैयार होगए, किन्तु युधिष्ठिर शान्तिप्रिय थे। वे चाहते थे जहाँ तक हो सके युद्ध को टालना चाहिए। दुर्योधन की इस मनोवृत्ति को देख कर उन्होंने सोचा—यदि अपनी आजीविका के लिए हम लोगों को सिर्फ पाँच गाँव मिल जायँ तो भी गुजारा हो सकता है। यदि इतने पर भी दुर्योधन मान जाय तो रक्तपात रुक सकता है।

श्रीकृष्ण भी जहाँ तक हो सके, शान्ति को कायम रखना चाहते थे। युधिष्ठिर ने अपनी बात श्रीकृष्ण के सामने रक्खी और उन्हीं पर सन्धि का सारा भार डाल दिया।

द्रौपदी को युधिष्ठिर की यह बात अच्छी न लगी। दुःशासन द्वारा किया गया अपमान उसके हृदय में काँटे की तरह चुभ रहा था। वह उसका बदला लेना चाहती थी। अपने खुले हुए केशों को हाथ में लेकर द्रौपदी श्रीकृष्ण से कहने लगी- प्रभो! आप सन्धि के लिए जारहे हैं। विशाल साम्राज्य के बदले पाँच गाँव देकर कौन सन्धि न करेगा? उसमें भी जब सन्धि कराने वाले आप सरीखे महापुरुष हों। आपने हमारे भरण पोषण के लिए पाँच गाँवों को पर्याप्त मान कर शान्ति रखना उचित समझा है, किन्तु मैं गाँवों की भूखी नहीं हूँ। जंगल में रह कर भी मैं अपने दिन प्रसन्नतापूर्वक काट सकती हूँ। मुझे साम्राज्य की परवाह नहीं है। मैं तो अपने इन केशों के अपमान का बदला चाहती हूँ। जिस समय दुष्ट दुःशासन ने इन्हें खींचा था, मैंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक ये केश उसके रक्त से न सींचे जाएगे तब तक मैं इन्हें न गूँथूँगी। क्या मेरे ये केश खुले ही रह जाएगे? क्या एक महिला का अपमान आपके लिये कोई महत्त्व नहीं रखता? भीम ने दुःशासन का वध और दुर्योधन की जंघा चूर चूर करने की प्रतिज्ञा की है। क्या उसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण ही रह जायगी?

दुर्योधन ने हमारे साथ क्या नहीं किया? जहर देकर मार डालने का प्रयत्न किया, लाख के घर में जला देना चाहा, दुर्वासा मुनि से शाप दिलाने की कोशिश की, हमारा जगह जगह अपमान किया, मेरी लाज छीनने में भी कसर नहीं रक्खी। वनवास तथा गुप्तवास के बाद शर्त के अनुसार हमें सारा साम्राज्य मिलना चाहिए उसके बदले आप पाँच गाँव लेकर सन्धि करने जा रहे हैं, क्या यह अन्याय का पोषण नहीं है? क्या यह पापी दुर्योधन के लिए आप का पक्षपात नहीं है? क्या हमारे अपमानों का यही बदला है?

द्रौपदी की वक्तृता सुन कर सभी लोग दंग रह गए। उन्हें ऐसा